

श्रमण

ŚRAMAṆA

(A Quarterly Research Journal of Jaina Studies)

JANUARY- MARCH, 1998



पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
PĀRŚVANĀTHA VIDYĀPĪṬHA, VARANASI.

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष-४९]

अंक १-३]

[जनवरी-मार्च १९९८

प्रधान सम्पादक

प्रोफेसर सागरमल जैन

सम्पादक मण्डल

डॉ० अशोक कुमार सिंह

डॉ० शिवप्रसाद

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री, समाचार, विज्ञापन, सदस्यता आदि के लिए सम्पर्क करें

प्रधान सम्पादक

श्रमण

पार्श्वनाथ विद्यापीठ

आई०टी०आई० मार्ग, करौंदी

पो०ऑ०-बी०एच०यू०

वाराणसी-२२१००५

दूरभाष: ३१६५२१, ३१८०४६

वार्षिक सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० १५०.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु० १००.००
एक प्रति	:	रु० २०.००

आजीवन सदस्यता शुल्क

संस्थाओं के लिए	:	रु० १०००.००
व्यक्तियों के लिए	:	रु० ५००.००

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक सहमत हों

श्रमण

प्रस्तुत अङ्क में

लेख	पृष्ठ संख्या
अंगविज्जा और नमस्कार मन्त्र की विकास यात्रा	१-८
डॉ० सागरमल जैन	
जैन संदर्भ में अचेतन द्रव्य व्यवस्था	९-१३
डॉ० विनोद कुमार तिवारी	
जैन दर्शन का मानववादी दृष्टिकोण	१४-२७
डॉ० विजय कुमार जैन	
जैन दर्शन और कबीर: एक तुलनात्मक अध्ययन	२८-४३
डॉ० साध्वी मंजुश्री	
जैन एवं बौद्ध ध्यान पद्धति: एक अनुशीलन	४४-५३
डॉ० सुधा जैन	
स्वयं की अनेकान्तमयी समझ से तनावमुक्ति	५४-६४
डॉ० पारसमल अग्रवाल	
खरतरगच्छ-पिप्पलकशाखा का इतिहास	६७-८१
डॉ० शिवप्रसाद	
कीर्तिकौमुदी में प्रयुक्त छन्द	८३-९०
डॉ० अशोक कुमार सिंह	
मुनिराज वन्दना बत्तीसी	९१-१००
डॉ० (श्रीमती) मुन्नी जैन	
कविताएं	१०१-१०२
राष्ट्रसंत गणेश मुनि शास्त्री/रश्मि जैन	
ENGLISH ARTICLES	
Jaina Process of Learning	१०४-१०८
Dr. Mohan Lal Mehta	
A Study of Extracts in Aṣṭaka-Prakaraṇa	१०९-११८
Dr. Ashok Kumar Singh	
जैन जगत्	११९-१२२
पुस्तक समीक्षा	१२३-१३४

अंगविज्जा और नमस्कार मन्त्र की विकास यात्रा

डॉ० सागरमल जैन

नमस्कार मन्त्र जैन धर्म का आधारभूत और सर्वसम्प्रदायमान्य मन्त्र है। परम्परागत विश्वास तो यही है कि यह मन्त्र अनादि-अनिधन है और जैन आगमों का सारतत्त्व एवं आदि स्रोत है। इस मन्त्र के सन्दर्भ में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है- 'चउदह पूरब केरो सार समरो सदा मन्त्र नवकार' मात्र यही नहीं, नमस्कार महामन्त्र का महाश्रुतस्कन्ध ऐसा नामकरण भी इसी तथ्य का सूचक है। आगमों के अध्ययन के पूर्व प्रारम्भ में इसी का अध्ययन कराया जाना भी यही सूचित करता है कि यह उनका आदि स्रोत है। नमस्कारमन्त्र के पाँचो पद व्यक्तिवाचक न होकर गुणवाचक हैं। इन गुणों का अस्तित्व अनादि अनिधन है और ऐसे गुणी जनों के प्रति विनय का भाव भी स्वाभाविक है अतः इस दृष्टि से नमस्कार मन्त्र को अनादि माना जा सकता है। किन्तु विद्वानों की मान्यता भिन्न है। उनके अनुसार चूलिका सहित पञ्चपदात्मक सम्पूर्ण नमस्कार मन्त्र का एक क्रमिक विकास हुआ है। प्रस्तुत निबन्ध में हम अंगविज्जा और खारवेल के अभिलेख के विशेष सन्दर्भ में नमस्कार मन्त्र की इस विकासयात्रा का अध्ययन करेंगे।

जैन आगम साहित्य के प्राचीन स्तर के ग्रन्थ, आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि में नमस्कारमन्त्र का कोई भी निर्देश हमें उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि दशवैकालिकसूत्र में आर्य शय्यम्भव ने यह निर्देश किया है कायोत्सर्ग को नमस्कार से पूर्ण करना चाहिये किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि यह नमस्कार पञ्चपदात्मक होता था। सामायिक सूत्र में कायोत्सर्ग के आगार सूत्र में यह पाठ आता है कि 'अरिहंताणं, भगवंताणं, नमुक्कारेणं न पारेमि'^१ अर्थात् अरहंताणं से इसे पूर्ण करूँगा। वर्तमान परम्परा से इसकी पुष्टि भी होती है। फिर भी नमस्कार से तात्पर्य पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र से रहा होगा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के निर्देश जिन आगमों में उपलब्ध होते हैं उनमें अङ्ग आगमों में भगवतीसूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी अङ्ग आगम ग्रन्थ में नमस्कार मन्त्र का निर्देश नहीं है। अङ्गबाह्य आगमों में प्रज्ञापनासूत्र के प्रारम्भ में भी नमस्कार मन्त्र उपलब्ध होता है। प्रज्ञापना के अतिरिक्त महानिशीथ के

प्रारम्भ में भी नमस्कार मन्त्र का निर्देशन मिलता है (ॐ नमो तित्थस्स । ॐ नमो अरहंताणं ।)^२

भगवतीसूत्र एवं **प्रज्ञापना** के प्रारम्भ में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का निर्देश तो है, किन्तु यह उनका अङ्गीभूत अंश है अथवा प्रक्षिप्त अंश है, इसको लेकर विद्वानों में मतवैभिन्न देखा जाता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि **प्रज्ञापना** के टीकाकार मलयगिरि इसकी कोई टीका नहीं करते हैं, इसलिए यह मन्त्र उसका अङ्गीभूत मन्त्र नहीं है। इसे बाद में मङ्गल सूचक आदि वाक्य के रूप में जोड़ा गया है, अतः प्रक्षिप्त अंश है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि **भगवतीसूत्र** के प्रारम्भ में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र तो मिलता है, किन्तु उसकी चूलिका नहीं मिलती है, उसके स्थान पर 'नमो बंभी-लिविए' यह पद मिलता है। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि ब्राह्मीलिपि के प्रति यह नमस्कारात्मकपद तभी उसमें जोड़ा गया होगा, जब इस ग्रन्थ को सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया गया होगा। **भगवतीसूत्र** के पश्चात् **प्रज्ञापनासूत्र** में भी पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र उपलब्ध होता है। किन्तु **प्रज्ञापनासूत्र** निश्चित ही ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग निर्मित हुआ है। अतः इस आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी तक पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का विकास हो चुका था। जहाँ तक **महानिशीथ** का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि उसकी मूलप्रति दीमकों से भक्षित हो जाने पर आचार्य हरिभद्र ने ही इस ग्रन्थ का पुनरोद्धार किया। हरिभद्र का काल स्पष्ट रूप से लगभग ईसा की ७वीं-८वीं शताब्दी माना जाता है। अतः **महानिशीथसूत्र** में चूलिका नमस्कारमन्त्र की उपस्थिति उसकी विकास यात्रा को समझने में किसी भी प्रकार सहायक नहीं होती है। **महानिशीथ**^३ में जो यह बताया गया है कि 'पञ्चमङ्गल महाश्रुतस्कन्ध का व्याख्यान मूलमन्त्र की निर्युक्ति भाष्य एवं चूर्णि में किया गया था और यह व्याख्यान तीर्थकरों से प्राप्त हुआ था। काल दोष से वे निर्युक्तियाँ, भाष्य और चूर्णियाँ नष्ट हो गईं। फिर कुछ समय पश्चात् वज्रस्वामी ने नमकार महामन्त्र का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। यह वृद्धसम्प्रदाय है।' यह तथ्य नमस्कारमन्त्र के रचयिता का पता लगाने में सहायक होता है।

यद्यपि **आवश्यक निर्युक्ति** में वज्रस्वामी के उल्लेख में इस घटना का निर्देश नहीं है, फिर भी इससे दो बातें फलित होती हैं- प्रथम तो यह कि हरिभद्र के काल तक यह अनुभूति थी कि नमस्कार महामन्त्र के उद्धारक वज्रसूरि थे और दूसरे यह कि उन्होंने इसे आगम में स्थापित किया। इसका तात्पर्य यह भी है कि **भगवतीसूत्र** में नमस्कारमन्त्र की स्थापना वज्रस्वामी ने की और वे ही इसके उद्धारक या किसी अर्थ में इसके निर्माता हैं। वज्रस्वामी का काल लगभग ईसा की प्रथम शती है। संयोग से यही काल **अंगविज्जा** का है। खारवेल का अभिलेख इससे लगभग १५० वर्ष

पूर्व का है। आगमिक व्याख्या साहित्य में **आवश्यक निर्युक्ति** में सर्वप्रथम हमें सम्पूर्ण चूलिका सहित नमस्कारमन्त्र का निर्देश मिलता है। **आवश्यक निर्युक्ति** में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के साथ-साथ उसकी चूलिका भी उपलब्ध हो जाती है। मैंने अपने एक स्वतन्त्र लेख में यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि निर्युक्ति का रचनाकाल ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग है। इससे यह फलित होता है कि चूलिका सहित पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी में अस्तित्व में आ गया था। दिगम्बर परम्परा में **षट्खण्डागम** के आदि में भी पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र उपलब्ध होता है किन्तु विकसित गुणस्थान सिद्धान्त की उपस्थिति आदि के कारण यह ग्रन्थ ईसा की ५वीं शताब्दी के पूर्व का सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार **मूलाचार** में भी चूलिका सहित नमस्कारमन्त्र उपलब्ध होता है किन्तु यह ग्रन्थ भी लगभग ६ठी शताब्दी के आस-पास का है। इसमें तो नमस्कारमन्त्र और उसकी चूलिका आवश्यक निर्युक्ति से ही उद्धृत की गई है। क्योंकि **मूलाचार** एवं **आवश्यक निर्युक्ति** में न केवल प्रस्तुत चूलिका सहित नमस्कारमन्त्र उद्धृत हुआ है, अपितु उसकी अनेक गाथाएँ भी उद्धृत हैं, अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **आवश्यक निर्युक्ति** के काल तक अर्थात् ईसा की दूसरी शती तक नमस्कारमन्त्र का पूर्णतः विकास हो चुका था। परम्परागत मान्यता यह है कि 'सिद्धाणं नमो किच्चा' अर्थात् सिद्धों को नमस्कार करके जहाँ तीर्थंकर दीक्षित होते हैं। जहाँ तक अरहंत पद का प्रश्न है- **भगवती, आचाराङ्ग** (द्वितीय श्रुतस्कन्ध), **कल्पसूत्र** एवं **आवश्यकसूत्र** के शक्रस्तव में 'नमोत्थुणं अरहंताणं' के रूप में अरहंत को नमस्कार किया गया है। सम्भवतः यहीं से नमस्कार मन्त्र की विकास यात्रा प्रारम्भ होती है। **महानिशीथ** सूत्र के प्रारम्भ में नमो तित्थस्स, नमो अरहंताणं-ऐसे दो पद मिलते हैं। इसमें नमस्कार मन्त्र का तो मात्र एक ही पद है। फिर उसमें 'नमो सिद्धाणं' पद जुड़कर द्विपदात्मक नमस्कार मन्त्र बना होगा इस प्रकार प्रारम्भ में नमस्कारमन्त्र अरहंत और सिद्ध-ऐसा द्विपदात्मक रहा होगा। यद्यपि आगमों में संयुक्त रूप में द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र कहीं उपलब्ध नहीं होता है। मथुरा के ई०पू० प्रथम शती तक के अभिलेखों में कुछ अभिलेखों में 'नमो अरहंता' यह एक पद ही मिलता है। **अंगविज्जा** के चतुर्थ अध्याय 'अंगस्तय' में 'नमो अरहंताणं' ऐसा एक ही पद है जो अध्याय के आदि में दिया जाता है। इसके पश्चात् **अंगविज्जा** के अष्टम अध्याय में द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक और पञ्चपदात्मक नमस्कार मन्त्र मिलता है। **अंगविज्जा** में मुझे नमस्कारमन्त्र की चूलिका नहीं मिली, इस आधार पर यह माना जा सकता है कि चूलिका की रचना **अंगविज्जा** की रचना के पश्चात् ही निर्युक्तियों के रचनाकाल के समय हुई। इस प्रकार यह तो निश्चित होता है कि चूलिका रहित पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र लगभग ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में अस्तित्व आ गया था। अभी तक की शोधों के आधार पर केवल यह **अंगविज्जा** के अध्ययन के बिना निश्चित हो पा रहा था कि ईसा की प्रथम

शताब्दी में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का और ईसा की दूसरी शताब्दी में उसकी चूलिका का निर्माण हुआ होगा। उसके पूर्व नमस्कारमन्त्र की क्या स्थिति थी? यह विचारणीय है। प्राचीन स्तर के आगमों यथा **आचाराङ्ग** आदि में 'अरहंत' पद तो प्राप्त होता है, किन्तु उसके साथ 'नमो' पद की कोई योजना नहीं है। आगम में 'नमो' पद पूर्वक 'सिद्ध' पद का प्रयोग **उत्तराध्ययनसूत्र**^४ में मिलता है। उसमें 'सिद्धाणं नमो' ऐसा प्रयोग मिला है। **भगवती** और **कल्पसूत्र** में 'नमोत्थुणं अरहंताणं,' ऐसा पद मिलता है। किन्तु 'नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं' ऐसे दो पद मुझे देखने में नहीं आये।

इसी सन्दर्भ में सर्वप्रथम लगभग ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी का एक अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होता है जिसमें द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र का निर्देश है। भुवनेश्वर (उड़ीसा) के खारवेल के हत्थीगुम्फा अभिलेख (ई०पू० दूसरी शताब्दी) में हमें निम्न दो पद मिलते हैं- १. 'नमो अरहंता,' २. 'नमो सव्व सिद्धाणं।'

इस प्रकार द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र का ई०पू० का अभिलेखीय साक्ष्य तो मिला, किन्तु किसी साहित्यिक साक्ष्य से इसकी पुष्टि नहीं हो पा रही थी। मात्र इतना ही नहीं, इसमें 'सिद्धाणं' के साथ जो 'सव्व' विशेषण जुड़ा हुआ है, उसकी भी किसी साहित्यिक साक्ष्य से कोई पुष्टि नहीं हो पा रही थी। संयोग से जब मैं अपनी पुस्तक '**जैन धर्म और तान्त्रिक साधना**' का 'जैन धर्म और मन्त्र साधना' नामक अध्याय लिख रहा था, तो जैन मन्त्रों के प्रारम्भिक स्रोतों को खोजने हेतु **अंगविज्जा** का अध्ययन कर रहा था तो मुझे उसमें न केवल द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र प्राप्त हुआ अपितु उसमें 'सव्व' विशेषण युक्त 'सिद्धाणं' पद भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार हमें खारवेल के अभिलेख के द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र का सम्पूर्ण साहित्यिक साक्ष्य **अंगविज्जा** में प्राप्त हुआ। साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि द्विपदात्मक इस नमस्कारमन्त्र के अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य समकालिक भी हैं। पुण्यविजय जी म०सा० द्वारा सम्पादित इस **अंगविज्जा** की 'भूमिका' में डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अंगविज्जा को कुषाणकाल अर्थात् ईसा की प्रथम शती की रचना माना है। खारवेल का अभिलेख इससे लगभग १५० वर्ष पूर्व का होगा। इस प्रकार **अंगविज्जा**, से खारवेल के अभिलेख से किञ्चित् परवर्ती है। यही कारण है कि **अंगविज्जा** में नमस्कारमन्त्र के एक पदात्मक, द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक एवं पञ्चपदात्मक चारों ही रूप देखने को मिलते हैं। किन्तु **अंगविज्जा** में हमें नमस्कारमन्त्र की चूलिका (एसो पञ्च नमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं) का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। अतः हम कह सकते हैं कि नमस्कारमन्त्र की चूलिका एक परवर्ती रचना है। इसका सर्वप्रथम निर्देश **आवश्यक निर्युक्ति** में उपलब्ध होता है। यदि **आवश्यक निर्युक्ति** को मेरी मान्यता के अनुसार आर्यभद्र की रचना माना

जाए तो उसका काल ईसा की दूसरी शताब्दी के लगभग स्थापित होता है। इस समय चर्चा से इतना अवश्य फलित होता है कि पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का विकास ईसा की प्रथम शताब्दी में आये वज्र के समय में हो चुका था। उसमें ईसा की दूसरी शती में चूलिका जुड़ी। द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र से पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के विकास में लगभग एक या दो शताब्दी व्यतीत हुई। खारवेल के अभिलेख और **अंगविज्जा** की रचना के बीच जो लगभग १५० वर्षों का अन्तर है, वही द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र से पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र के विकास का काल माना जा सकता है। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं— **अंगविज्जा** में एक पदात्मक, द्विपदात्मक और पञ्चपदात्मक चारो ही प्रकार के नमस्कारमन्त्र का उल्लेख उपलब्ध है। **अंगविज्जा** के प्रारम्भ में आदि मङ्गल के रूप में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र है किन्तु उसके ही चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में मङ्गल रूप में 'नमो अरहंताणं'-ऐसा एक ही पद है। पुनः **अंगविज्जा** के अष्टम अध्याय में महानिमित्तविद्या एवं रूप-विद्या सम्बन्धी जो मन्त्र दिये गये हैं उसमें द्विपदात्मक नमस्कारमन्त्र 'नमो अरहंताणं' और 'नमो सव्वसिद्धाणं' ऐसे दो पद मिलते हैं। इसमें भी प्रतिरूपविद्या सम्बन्धी मन्त्र में 'नमो अरहंताणं' और 'नमो सिद्धाणं' ये दो पद मिलते हैं। 'सिद्धाणं' के साथ में 'सव्व' विशेषण का प्रयोग नहीं मिलता है, किन्तु महानिमित्तविद्या सम्बन्धी मन्त्र में 'सव्व' विशेषण का प्रयोग उपलब्ध होता है। 'सव्व' विशेषण का उपयोग खारवेल के अभिलेखों में भी उपलब्ध है। **अंगविज्जा** में प्रतिहारविद्या सम्बन्धी जो मन्त्र दिया गया है उसमें हमें त्रिपदात्मक नमस्कारमन्त्र का निर्देश मिलता है। इसमें 'नमो अरहंताणं' 'नमो सव्वसिद्धाणं' और 'नमो सव्वसाहूणं' ऐसे तीन पद दिए गए हैं। ज्ञातव्य है कि इसमें सिद्धों और साधुओं के साथ 'सव्व' विशेषण का प्रयोग है। **अंगविज्जा** के इसी अध्याय में भूमिकर्म विद्या और सिद्धविद्या में पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र उपलब्ध होता है। यह स्पष्ट है कि त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र से 'आयरिआणं' और 'नमो उवज्जायाणं' ऐसे दो पदों की योजनापूर्वक पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का विकास हुआ है। नमस्कारमन्त्र की इस विकास यात्रा में इसकी शब्द योजना में भी आंशिक परिवर्तन हुआ है-ऐसा देखा जाता है। प्रथमतः 'नमो सिद्धाणं' में 'सिद्ध' पद के साथ 'सव्व' विशेषण की योजना हुई और पुनः यह 'सव्व' विशेषण उससे अलग भी किया गया। **अंगविज्जा** और खारवेल का अभिलेख इस घटना के साक्ष्य हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं जहाँ खारवेल के अभिलेख में 'नमो सव्वसिद्धाणं' पाठ मिलता है वहाँ **अंगविज्जा** में 'नमो सिद्धाणं' और 'नमो सव्वसिद्धाणं'-दोनों पाठ मिलते हैं। वर्तमान में जो नमस्कारमन्त्र का 'नमो सव्वसिद्धाणं' और 'नमो सव्व साहूणं' पाठ मिलता है वह **महानिशीथ** सप्तम अध्याय की चूलिका के प्रचलित पाठ में अनुपलब्ध है। **भगवती, प्रज्ञापना, षट्खण्डागम** आदि श्वेताम्बर-दिगम्बर आगमों में जो पाठ उपलब्ध होता है उसमें कहीं भी सिद्ध

पद के साथ 'सव्व' (सर्व) विशेषण का प्रयोग नहीं है। इसी प्रकार की दूसरी समस्या 'साहू' पद के विशेषणों को लेकर भी है। वर्तमान में 'साहू' पद के साथ 'लोए' और 'सव्व' इन दो विशेषणों का प्रयोग उपलब्ध होता है। वर्तमान में 'नमो लोए सव्वसाहूणं' पाठ उपलब्ध है किन्तु **अंगविज्जा** में 'नमो सव्वसाहूणं' और 'नमो लोए सव्वसाहूणं' ये दोनों पाठ उपलब्ध हैं। जहाँ प्रतिहार विद्या और स्तरविद्या सम्बन्धी मन्त्र में 'नमो सव्वसाहूणं' पाठ है, वहीं अंगविद्या, भूमिकर्मविद्या एवं सिद्धविद्या में 'नमो सव्वसाहूणं-ऐसा पाठ मिलता है। **भगवतीसूत्र** की कुछ प्राचीन हस्त-प्रतियों में भी 'लोए' विशेषण उपलब्ध नहीं होता है-ऐसी सूचना उपलब्ध है, यद्यपि इसका प्रमाण मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। किन्तु तेरापंथ समाज में 'लोए' पद रखने या न रखने को लेकर एक चर्चा अवश्य प्रारम्भ हुई थी और इस सम्बन्ध में कुछ ऊहापोह भी हुआ था। किन्तु अन्त में उन्होंने 'लोए' पाठ रखा। ज्ञातव्य है कि विशेषण रहित 'नमो साहूणं' पद कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। अतः नमस्कारमन्त्र के पञ्चम पद के दो रूप मिलते हैं- 'नमो सव्वसाहूणं' और 'नमो लोए सव्वसाहूणं' और ये दोनों ही रूप **अंगविज्जा** में उपस्थित हैं। इस सम्बन्ध में **अंगविज्जा** की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि जहाँ त्रिपदात्मक नमस्कार मन्त्र का प्रयोग है वहाँ मात्र 'सव्व' विशेषण का प्रयोग हुआ है और जहाँ पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र का उल्लेख है वहाँ 'लोए' और 'सव्व' दोनों का प्रयोग है। जबकि 'सिद्धाणं' पद के साथ पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र में कहीं भी 'सव्व' विशेषण का प्रयोग नहीं हुआ है मात्र द्विपदात्मक अथवा त्रिपदात्मक नमस्कारमन्त्र में ही 'सिद्धाणं' पद के साथ 'सव्व' विशेषण का प्रयोग देखने में आता है। **अंगविज्जा** में नमस्कारमन्त्र में तो नहीं किन्तु लब्धिपदों के नमस्कार सम्बन्धी मन्त्रों में 'आयरिआणं' पद के साथ 'सव्वेसिं' विशेषण भी देखने को मिला है। वहाँ पूर्ण पद इस प्रकार है- 'णमो माहणिमित्तीणं सव्वेसिं आयरिआणं'। **आवश्यक निर्युक्ति** में उल्लेख है— 'आयरिअ नमुक्कारेण विज्जामंता य सिज्झंति'^५। इससे यही फलित होता है कि विद्या एवं मन्त्रों की साधना का प्रारम्भ आचार्य के प्रति नमस्कार पूर्वक होता है। इसी सन्दर्भ में 'णमोविज्जाचारणसिद्धाणं तवसिद्धाणं'-ऐसे दो प्रयोग भी **अंगविज्जा** में मिलते हैं। ज्ञातव्य है कि यहाँ 'सिद्ध' पद का अर्थ वह नहीं है जो अर्थ पञ्चपदात्मक नमस्कारमन्त्र में है। यहाँ सिद्ध का तात्पर्य चारणविद्या सिद्ध अथवा तप-सिद्ध है, न कि मुक्त-आत्मा।

नमस्कारमन्त्र के प्रारम्भ में 'नमो' में दन्त्य 'न' का प्रयोग हो या मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग हो इसे लेकर विवाद की स्थिति बनी हुई है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में 'नमो' और 'णमो' दोनों ही रूप मिलते हैं, वहाँ दिगम्बर परम्परा में 'णमो' ऐसा एक ही प्रयोग मिलता है। अब अभिलेखीय आधारों पर विशेषरूप से खारवेल के हत्थीगुम्फा अभिलेख और मथुरा के जैन अभिलेखों के अध्ययन से सुस्पष्ट

हो चुका है कि 'नमो' पद का प्रयोग ही प्राचीन है और उसके स्थान पर 'णमो' पद का प्रयोग परवर्ती है। वस्तुतः शौरसेनी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण के 'नो णः' सूत्र के आधार पर परवर्ती काल में दन्त्य 'न' के स्थान पर मूर्धन्य 'ण' का प्रयोग होने लगा। इस सम्बन्ध में **अंगविज्जा** की क्या स्थिति है? यह भी जानना आवश्यक है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अपने द्वारा सम्पादित **अंगविज्जा** में नमस्कारमन्त्र के प्रसङ्ग में 'नमो' के स्थान पर 'णमो' का ही प्रयोग किया है। किन्तु मूल में 'णमो' शब्द का प्रयोग स्वीकार करने पर हमें **अंगविज्जा** की भाषा की प्राचीनता पर सन्देह उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि प्राचीन अर्धमागधी में सामान्यतः 'नमो' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस सन्दर्भ में मैंने मुनि श्री पुण्यविजय जी के सम्पादन में आधारभूत रही हस्तप्रतों के चित्रों का अवलोकन किया। यद्यपि उनके द्वारा प्रयुक्त हस्तप्रतों में 'नमो' और 'णमो' दोनों ही रूप उपलब्ध होते हैं। जहाँ कागज की दो हस्तप्रतों में 'नमो' पाठ है, वहाँ कागज एक हस्तप्रत में 'णमो' पाठ है। इसी प्रकार सम्पादन में प्रयुक्त ताडपत्रीय दो प्रतों में से जैसलमेर की प्रति (१४वीं शती) में 'नमो' पाठ है। लेकिन परवर्ती खम्भात में लिखी गई (१५वीं शती के उत्तरार्ध १४८९ में लिखी गई निजी संग्रह) प्रति में 'णमो' पाठ है। मात्र यही नहीं कागज की उनके स्व संग्रह की जिस प्रति में 'णमो' पाठ मिला है उसमें भी प्रथम चार पदों में ही 'णमो' पाठ है। पञ्चम पद में 'नमो' पाठ ही है। यही नहीं आगे लब्धिपदों के साथ भी 'नमो' पाठ है। होना तो यह था कि सम्पादन करते समय उन्हें 'नमो' यह प्राचीन प्रतियों का पाठ लेना चाहिए था किन्तु ऐसा लगता है कि मुनि श्री ने भी **हेमचन्द्र-व्याकरण** के 'नो णः' सूत्र को आधार मानकर 'नमो' के स्थान पर 'णमो' को ही व्याकरण सम्मत स्वीकार किया है। आश्चर्य है कि मुनिश्री ने **अंगविज्जा** की प्रस्तावना में ग्रंथ की भाषा और जैन प्राकृत के विविध प्रयोग शीर्षक के अन्तर्गत महाराष्ट्री प्राकृत से जैन प्राकृत (अर्धमागधी) के अन्तर की लगभग चार पृष्ठों में विस्तृत चर्चा की है और विविध व्यञ्जनों के विकार, अविकार और आगम को समझाया भी है फिर भी उसमें 'न' और 'ण' के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की है। सम्भवतः उन्होंने 'ण' के प्रयोग को ही उपयुक्त मान लिया था। किन्तु मेरा विद्वानों से अनुरोध है कि उन्हें अभिलेखों और प्राचीन हस्तप्रतों में उपलब्ध 'नमो' पाठ को अधिक उपयुक्त मानना चाहिए। वस्तुतः मुनि श्री पुण्यविजय जी ने जिस काल में **अंगविज्जा** के सम्पादन का दुरूह कार्य पूर्ण किया, उस समय तक 'न' और 'ण' में कौन प्राचीन है यह चर्चा प्रारम्भ ही नहीं हुई थी। मेरी जानकारी में इस चर्चा का प्रारम्भ आदरणीय डॉ० के० आर० चन्द्रा के प्रयत्नों से हुआ है, अतः भविष्य में जब कभी इसका पुनः सम्पादन, अनुवाद और प्रकाशन हो तब इन तथ्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। वस्तुतः महान अध्यवसायी और पुरुषार्थी मुनि श्री पुण्यविजय जी के श्रम का ही यह फल है कि आज हमें **अंगविज्जा** जैसा दुर्लभ ग्रन्थ अध्ययन के लिए उपलब्ध

है। विद्वद्गण उनके इस महान कार्य को कभी नहीं भूलेंगे। आज आवश्यकता है तो इस बात कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुदित करके प्रकाशित किया जाए ताकि प्राकृत भाषा से अपरिचित लोग भी भारतीय संस्कृति की इस अनमोल धरोहर का लाभ उठा सकें।

अंगविज्जा भारतीय निमित्त शास्त्र की विविध विधाओं पर प्रकाश डालने वाला अब्दुत एवं प्राचीनतम् ग्रन्थ है। इसी प्रकार जैन तन्त्र शास्त्र का भी यह अनमोल एवं प्रथम ग्रंथ है। परम्परागत मान्यता और इस ग्रंथ में उपलब्ध आन्तरिक साक्ष्य इस तथ्य के प्रमाण हैं कि यह ग्रंथ दृष्टिवाद के आधार पर निर्मित हुआ है (बारसमे अंगे दिट्ठिवाए..... सुत्तविकयं तओ^६ इसमें भारतीय संस्कृति और इतिहास की अमूल्य निधि छिपी हुई है। मुनिश्री पुण्यविजय जी ने अति श्रम करके इसके विभिन्न परिशिष्टों में उसका सङ्केत दिया है और उसी आधार पर वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसकी विस्तृत भूमिका लिखी है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि **अंगविज्जा** भारतीय संस्कृति का अनमोल ग्रन्थ है। इसका अध्ययन अपेक्षित है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में मैंने **अंगविज्जा** के परिप्रेक्ष्य में मात्र नमस्कारमन्त्र की विकास यात्रा की चर्चा की। आगे इच्छा है कि **अंगविज्जा** के आधार पर लब्धि पदों की विकास यात्रा की चर्चा की जाये। ये लब्धि पद सूरिमन्त्र और जैन तान्त्रिक साधना के आधार हैं और इनका प्रथम निर्देश भी **अंगविज्जा** में मिलता है। साथ ही ये नमस्कारमन्त्र के ही एक विकसित स्वरूप हैं। इसकी विस्तृत चर्चा आगे किसी शोध लेख में करेंगे। वस्तुतः मुनि श्री पुण्यविजय जी ने **अंगविज्जा** को सम्पादित एवं प्रकाशित करके ऐसा महान उपकार किया है कि केवल इस पर सैकड़ों शोध लेख और बीसों शोध-प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं। विद्वत् वर्ग इस सामग्री का उपयोग करे यही मुनि श्री के प्रति उनकी सर्वोत्तम श्रद्धाञ्जलि होगी।

सन्दर्भ

१. सामायिक सूत्र (कायोत्सर्ग- आगार सूत्र- ४)
२. महानिशीथ, (श्रीआगमसुधासिन्धुः-दशमो विभागः) संपा० श्री विजय जिनेन्द्र सूरीश्वर, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रंथमाला ग्रन्थांक-७७, लाखा बावल, शांतिपुरी सौराष्ट्र, १/१.
३. तिथ्यर गुणाणमणंत भागमलभंमंतमन्त्रत्थ, वही- ३/२५.
४. सिद्धाणं णमो किच्चा, उत्तराध्ययनसूत्र, (नवसुत्ताणि) जैन विश्वभारती, लाडनूं, २०/१.
५. आवश्यक निर्युक्ति, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रं०मा०, लाखाबावल, सौराष्ट्र-१११०.
६. अंगविज्जा- १/१०-११ पृ०- १





जैन संदर्भ में अचेतन द्रव्य व्यवस्था

—डॉ० विनोद कुमार तिवारी*

जैन परम्परा में संसार की समस्त वस्तुओं का विभाजन दो वर्गों में किया गया है और उन्हें जीव एवं अजीव की संज्ञा दी गयी है। जैन दार्शनिकों के अनुसार जीव का साधारणतः अर्थ चेतन द्रव्य या आत्मा है जबकि अजीव से तात्पर्य अचेतन वस्तुओं या ऐसे द्रव्यों से है, जिनमें चेतना नहीं पायी जाती।^१ अचेतन द्रव्यों में पुद्गल के अतिरिक्त देश और काल भी सम्मिलित किये गये हैं।^२ अजीव में भी जिनके शरीर होते हैं, उन्हें “अस्तिकाय अजीव” कहते हैं और जिनके शरीर नहीं होता, उन्हें “अनस्तिकाय अजीव” कहा जाता है।

अजीव द्रव्यों का विभाजन पाँच समूहों में किया गया है- धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल। इनमें से प्रथम चार को अस्तिकाय कहा गया है, क्योंकि इनमें अनेक प्रदेश^३ होते हैं, अथवा दूसरे शब्दों में ये स्थान घेरते हैं। पर काल में चूँकि एक ही प्रदेश है, अतः वह अस्तिकाय नहीं है। इस सृजन के अन्तर्गत अजीव तत्त्व का नाश नहीं होता है इसी कारण इसे द्रव्य कहा गया है। जहाँ पुद्गल में रस, रूप, गंध और स्पर्श जैसे लक्षण होते हैं, वहीं अन्य द्रव्यों में ये गुण नहीं पाये जाते।^४ धर्म, अधर्म और आकाश एक हैं, परन्तु पुद्गल और जीव अनेक हैं। प्रथम तीन क्रियारहित हैं, जबकि पुद्गल और जीवों में क्रिया होती है। काल में क्रिया नहीं है और यह एक स्थान से दूसरे स्थान को नहीं जा सकता। धर्म, अधर्म, आकाश एवं जीव में अनेक प्रदेश होते हैं, पर अणु में प्रदेश का अभाव होता है, अतः इसे अनादि, अमध्य और अप्रदेश भी कहा गया है। ये द्रव्य उस आकाश में जहाँ जीव, धर्म, अधर्म, काल एवं पुद्गल व्याप्त रहते हैं, स्वच्छन्द रूप से विचरण करते हैं।^५

सामान्यतः धर्म और अधर्म का अर्थ क्रमशः पुण्य और पाप से लिया जाता है, पर जैनों ने धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का विशेष अर्थों में प्रयोग किया है। ‘धर्मास्तिकाय’ अजीव तत्त्व का वह भेद है, जो स्वयं क्रियारहित है और दूसरे में भी क्रिया उत्पन्न नहीं करता। लेकिन यह क्रियाशील जीवों और पुद्गलों की क्रिया में सहायता

अवश्य प्रदान करता है।^६ इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव और पुद्गल की अपनी गति नहीं होती, बल्कि यह तो एक माध्यम है, जिसके द्वारा गति पैदा होती है। जिस प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु में परिणमन करने की शक्ति मौजूद है, फिर भी काल द्रव्य की मदद के बिना कोई वस्तु परिणमन नहीं कर सकती, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय के बिना किसी में गति नहीं हो सकती। इसे एक छोटे से उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। एक मछली पानी में तैरती है। बिना पानी के मछली नहीं तैर सकती। ठीक इसी तरह धर्म क्रियाशील जीव और पुद्गलों की क्रिया में सहायक के रूप में कार्य करता है। धर्म न तो स्वयं क्रियाशील है और न यह किसी में क्रिया उत्पन्न करता है। पर यह उसकी क्रिया या गति में एक आवश्यक आधार या कारण के रूप में कार्य करता है। अजीव तत्त्व लोकाकाश में व्यापक रूप में रहता है।^७ लेकिन यह रस, रूप, गंध, शब्द और स्पर्श विहीन है।^८ यह परिणामी होकर भी नित्य है, क्योंकि उत्पाद और व्यय होने के बावजूद इसका स्वरूप कायम रहता है। गति और परिणाम का यह कारण है।

अधर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में सहायता प्रदान करता है।^९ यह ठीक उसी प्रकार है जिस तरह एक बड़ा पेड़ अपनी छाया में थके पथिक को आराम पहुँचाता है या उसे सहायता प्रदान करता है।^{१०} यह धर्म का प्रतिलोम है और इसमें रस, रूप, गंध एवं स्पर्श का अभाव है। यह अमूर्त, नित्य और लोकाकाश में व्याप्त है।^{११} धर्म और अधर्म एक साथ लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में रहते हैं, पर दोनों नित्य निराकार और गतिहीन हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य की तुलना आधुनिक विज्ञान के क्रमशः 'ईथर' तत्त्व और न्यूटन के 'आकर्षण सिद्धांत' से की गई है। जिस प्रकार ईथर को अमूर्त, व्यापक, निष्क्रिय और अदृश्य मानने के साथ-साथ गति का आवश्यक माध्यम भी माना गया है, उसी प्रकार जैन दर्शन में धर्म द्रव्य को भी स्वीकार किया गया है।

अजीव तत्त्वों के अन्तर्गत आकाशास्तिकाय एक ऐसा तत्त्व है, जिसमें जीव, धर्म, अधर्म, काल एवं पुद्गल को अपनी-अपनी स्थिति के लिए स्थान की प्राप्ति हो जाती है।^{१२} यह अदृश्य है और इसका ज्ञान मात्र अनुभव से ही प्राप्त हो सकता है। बिना आकाश के अस्तिकाय द्रव्यों का विस्तार हो ही नहीं सकता है।^{१३} जैन विचारक आकाश के दो भेद मानते हैं- लोकाकाश और अलोकाकाश। 'लोकाकाश' आकाश का ही प्रतिरूप है, पर 'अलोकाकाश' में गति का होना संभव नहीं है।^{१४} लोकाकाश में असंख्य और अलोकाकाश में अनन्त प्रदेश हैं। लोकाकाश में जीव, पुद्गल, धर्म और अधर्म का निवास होता है, जबकि अलोकाकाश विश्व के प्रदेश से बाहर है। जैन विचारक लोकाकाश को सान्त मानते हैं और उसके आगे अनन्त आकाश मानते हैं, पर आइंस्टीन ने समस्त लोक को सान्त माना है और वे उससे आगे कुछ नहीं मानते।^{१५}

जड़ पदार्थ या वस्तु को जैन दर्शन के अन्तर्गत पुद्गल के नाम से जाना जाता है। इस अजीव द्रव्य की परिभाषा देते हुए ऐसा विचार व्यक्त किया गया है- 'जिस भौतिक द्रव्य का संयोजन और विभाजन हो सके, वही पुद्गल द्रव्य है। इसलिए पुद्गल को ऐसा द्रव्य माना गया है, जिसे जोड़कर हम बहुत बड़ा बना सकते हैं और इसे हिस्सों में बांटकर छोटा से छोटा भी बना सकते हैं। यह सीमित और मूर्त रूप है और इसमें आठ प्रकार के स्पर्श, पाँच प्रकार के रस, दो प्रकार के गंध और पाँच तरह के रूप पाये जाते हैं।^{१६} जीव की प्रत्येक क्रिया इसके रूप में अभिव्यक्त होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसके अणुओं से अनुभव की सारी वस्तुएँ बनी हैं, जिसमें प्राणियों के शरीर, ज्ञानेन्द्रियाँ और मानस भी शामिल हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जीवों का निवास सभी अणुओं के अन्दर होता है और इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् वस्तुतः जीवों से युक्त है। ये कर्म के रूप में भी होते हैं और इन्हीं कर्म पुद्गलों के सम्पर्क से जीव 'बद्ध' होता है। पुद्गल के 'सरल' या 'आणविक' और 'स्कन्ध' या 'यौगिक' दो रूप होते हैं। जब किसी वस्तु का विभाजन किया जाता है, तो अन्त में एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ वस्तु का और विभाजन सम्भव नहीं होता। उसी अविभाज्य अंश को 'अणु' कहा जाता है।^{१७} अनेक परमाणुओं के संगम से जो द्रव्य तैयार होता है, उसे स्कन्ध या संघात कहते हैं। सब प्रत्यक्ष योग्य वस्तुएँ स्कन्ध या यौगिक हैं।^{१८} स्कन्धों के विभाजन के फलस्वरूप अन्ततः अणु या परमाणु की प्राप्ति होती है। यद्यपि परमाणु नित्य है तथापि स्कन्धों के टूटने से उसकी उत्पत्ति होती है। दो अणुओं के मेल से द्विप्रदेश और द्विप्रदेश तथा एक अणु को मिलाकर त्रिप्रदेश बनता है। इसीप्रकार बड़े और सूक्ष्म अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तैयार होते हैं। आधुनिक रसायन विज्ञान में जिस अणु का उल्लेख किया गया है, वह जैन साहित्य में वर्णित अणु की तरह नहीं है। आधुनिक विज्ञान के 'अणु' को विभाजित किया जा सकता है, पर जैन दर्शन का अणु तो मूल कण है, जिसका अपना स्वयं का अस्तित्व है और उसमें कोई मिश्रण नहीं होता जिसे विभाजित किया जा सके। शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूल, संस्थान, आकार, अंधकार, छाया, प्रकाश और आतप-ये सभी पुद्गल के प्रमाण हैं।^{१९} अन्य दार्शनिकों ने शब्द को आकाश का गुण माना है, पर जैन विद्वानों ने इसे एक अलग मौलिक गुण के रूप में स्वीकार नहीं किया है, बल्कि वे शब्द को स्कन्ध या आगन्तुक गुण बतलाते हैं।^{२०} इसके प्रमाण में यह कहा जाता है कि यदि शब्द आकाश का गुण होता, तो इसे मूर्तिक कर्णेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता था, क्योंकि अमूर्तिक आकाश का गुण भी अमूर्तिक ही होता है और अमूर्तिक को मूर्तिक इन्द्रिय नहीं जान सकती।

जो वस्तुमात्र के परिवर्तन में सहायक होता है, उसे काल द्रव्य कहा जाता है। जैन आचार्य उमास्वाति ने द्रव्यों की वर्तना, परिणाम क्रिया, नवीनत्व या प्राचीनत्व 'काल' के कारण ही संभव माना है।^{२१} द्रव्यों के परिणाम और क्रियाशीलता की व्याख्या काल

के द्वारा ही होती है। काल को एक ऐसा द्रव्य माना गया है, जिसे न तो हम देख सकते हैं, न उसकी आवाज सुन सकते हैं, न उसका स्पर्श कर सकते हैं, और न उसकी गंध ही प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए प्रत्यक्ष के द्वारा काल के अस्तित्व को कभी अनुभव नहीं किया जा सकता है। इसके लिए अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। वस्तुओं में जो परिणाम या उसकी अवस्था विशेष में जो परिवर्तन होता है, उसकी व्याख्या के लिए काल को मानना पड़ता है। यह नित्य है, अतः पुद्गल सदा गतिशील रहता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण में काल को 'समय' के रूप में जाना जाता है, जिसका विभाजन आधुनिक काल में घंटा, मिनट और सेकेण्ड के रूप में किया गया है। समय निश्चय काल का एक रूप है, परन्तु जीव और पुद्गलों की गति के द्वारा अभिव्यक्त होने के कारण 'परिणाम भव' कहलाता है। समय अस्थायी है, अतः इसे काल-अणु भी कहा जाता है। चूंकि काल अणुमात्र प्रदेश को स्पष्ट करता है, अतः इसके काय नहीं होते। काल अणु परस्पर नहीं मिलते, यद्यपि ये समस्त लोकाकाश में भरे रहते हैं। निश्चय काल नित्य है और द्रव्यों के परिणाम में सहायक होता है। उपरोक्त गुणों के कारण जैन विचारकों ने काल के दो वर्ग किये हैं- पारमार्थिक या निश्चय काल और व्यावहारिक काल। जहाँ पारमार्थिक काल नित्य तथा निराकार है, वहीं व्यावहारिक काल सांसारिक है और इसका प्रारंभ तथा अन्त होता है।^{२२} गुणधर्म के आधार पर कुछ जैन दार्शनिकों ने काल को स्वतंत्र द्रव्य न मानकर दूसरे द्रव्यों का ही एक पर्याय माना है। अखण्ड द्रव्य होने के कारण यह अस्तिकाय नहीं है, वरन यह अवयवों के बिना ही समस्त विश्व में व्याप्त रहता है।^{२३} उपरोक्त सभी द्रव्य अजीव और अचेतन माने गये हैं, अतः इनमें सुख और दुःख का ज्ञान नहीं होता। पुद्गल को छोड़कर अन्य सभी अस्तिकाय द्रव्य असीमित आकार वाले हैं। पुद्गल में स्वभाव से ही रस, रूप, गंध और स्पर्श का अस्तित्व होता है।

काल द्रव्य को अन्य दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है, पर उन्होंने व्यवहार काल को ही काल द्रव्य मान लिया है। काल द्रव्य-अणुरूप वस्तु को केवल जैन शास्त्रों में ही स्वीकार किया गया है। यह काल द्रव्य भी आकाश की तरह ही अमूर्त है। अन्तर केवल इतना है कि आकाश अखण्ड है जबकि काल द्रव्य अनेक हैं।^{२४} इस प्रकार हम पाते हैं कि जैन दर्शन में अजीव तत्त्व का एक विशेष स्थान है, जो तत्कालीन और आधुनिक कई विचारों से भिन्न है, तथापि इसकी उपयोगिता इसके वैज्ञानिक तथ्यों के कारण अधिक परिलक्षित होती है।

सन्दर्भ-

१. जैकोबी, **सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट**, खण्ड २२, पृ०-XL.
२. एम० हिरियन्ना, **आउटलाइन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी**, पृ०- १५८.
३. आकाश का वह हिस्सा, जिसमें एक परमाणु रह सके।
४. **तत्त्वार्थसूत्र**, विवेचक- पं० सुखलाल संघवी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान,

- वाराणसी, ५/ १-४.
५. डॉ० उमेश मिश्र- **भारतीय दर्शन**, पृ०- १११.
 ६. नेमिचन्द्र, **द्रव्यसंग्रह**, टीकाकार- पं० अमृतलाल, रत्नाकर कार्यालय, लक्ष्मीपुरा सागर १९६८, पृ०- १७.
 ७. **तत्त्वार्थसूत्र**, १९/३, ५, ६, ७ एवं १३.
 ८. **पंचास्तिकाथ**, परमश्रुत प्रभावक मंडल, श्रीमद् राजचंद आश्रम, अगास, वि०सं०, २०२५; ८५.
 ९. **नियमसार**, अनु०- आर्थिका ज्ञानमती, वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला, हस्तिनापुर, १९८४, पृ०-३०.
 १०. मोहनलाल मेहता, **जैन फिलॉसफी**, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७१, पृ०-७३.
 ११. **पंचास्तिकाथ**, ८६.
 १२. **पंचास्तिकाथ**, ९०.
 १३. **वर्धमानपुराण**, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, १९७५, XVI. ३१.
 १४. **द्रव्यसंग्रह**, १९.
 १५. घासीराम जैन, **कास्मोलाजी ओल्ड एण्ड न्यू**, पृ०- ५८.
 १६. **तत्त्वार्थधिगमसूत्र**, ५/ २३.
 १७. **पंचास्तिकाथ**, गाथा ७७.
 १८. **सर्वदर्शनसंग्रह**, उमाशंकर शर्मा पृ०- २६.
 १९. **द्रव्यसंग्रह**, टीका- गाथा १६.
 २०. वही, ७१.
 २१. **तत्त्वार्थसूत्र** वाराणसी, ५/२२
 २२. **द्रव्यसंग्रह**, टीका- २१.
 २३. **सर्वदर्शनसंग्रह**, पृ०-३५-३६.
 २४. **सर्वार्थसिद्धि**, संपा०- पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५५, पृ०-१९१.





जैन दर्शन का मानववादी दृष्टिकोण

डॉ० विजय कुमार जैन*

दर्शन जगत् में दो परम्पराएँ प्राचीनकाल से प्रवाहित होती आ रही हैं- प्रकृतिवादी और निरपेक्षवादी। प्रकृतिवाद जहाँ प्रकृति को ही एकमात्र अन्तिम सत्य तथा स्वयंभू मानता है, वहीं निरपेक्षवाद प्रकृति को एक अन्तिम सत्य की बाह्य अभिव्यक्ति मानता है। किन्तु मानववाद, जो मानव को ही एकमात्र महत्त्व देता है, को प्रकृतिवाद और निरपेक्षवाद का विरोधी माना जाता है,^१ क्योंकि मानववाद का मुख्य उद्देश्य मानव-अनुभूति की व्याख्या करना है। यह मनुष्य को बौद्धिक जगत् के केन्द्र में रखता है तथा विज्ञान को मानव जीवन से संबंधित करता है। एक प्रकृतिवादी की दृष्टि में मानव अधिक से अधिक एक प्राकृतिक वस्तु है। उसका उतना ही महत्त्व हो सकता है जितना कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं का। इसी प्रकार एक निरपेक्षवादी के अनुसार मानव भी अन्तिम सत्य की अभिव्यक्ति मात्र है, अपने स्वरूप तथा नियति का निर्माता नहीं। अतः स्वाभाविक है कि मानववाद इन दोनों सिद्धान्तों से भिन्न होगा। बाल्डविन की **डिक्शनरी ऑफ फिलॉसफी एण्ड साइकोलोजी** (*Dictionary of Philosophy and Psychology*) में मानववाद को परिभाषित करते हुए कहा गया है- यह विचार विश्वास अथवा कर्म सम्बन्धी वह पद्धति है जो ईश्वर का परित्याग करके मनुष्य तथा सांसारिक वस्तुओं पर ही केन्द्रित रहती है। पाश्चात्य दार्शनिक कोर्लिस लोमोण्ट के अनुसार मानववाद समस्त मानव जाति का विश्व दर्शन है जो, विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के व्यक्तियों और उनकी असंख्य संतानों के दार्शनिक एवं नैतिक मार्गदर्शन में समर्थ हो सकता है।^२ **इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ह्यूमेनिटीज** (*Encyclopaedia of Humanities*) में लिखा है कि मानव जीवन की समस्याओं को महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति मानववाद है; विश्व में मानव को सर्वोत्तम स्थान देने की प्रवृत्ति मानववाद है।^३ इसी में आगे कहा गया है कि यह वह विचारधारा है जो मानवीय मूल्यों और मानवीय आदर्शों का प्राधान्य स्वीकार करती है; यह वह विचारधारा है जो मानव प्रकृति के उस पक्ष पर बल देती है जो प्रेम, सहयोग और प्रगति में व्यक्त होता है, न कि कठोरता, स्वार्थ या आक्रमणशीलता पर।^४ इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव की प्रतिष्ठा तथा अधिकारों के लिए सम्मान, व्यक्ति

* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

के रूप में उसके मूल्य, लोगों के मंगल-कल्याण, उनके चहुमुखी विकास, मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन की परिस्थितियों के निर्माण के लिए चिन्ता आदि को अभिव्यक्त करने वाले विचारों की समग्रता ही मानववाद का लक्ष्य है। वस्तुतः मानव-स्वतंत्रता ही मानववाद है। जैसा कि जे० मैक्यूरी ने कहा है- मनुष्य के ऊपर किसी भी उच्चतर सत्ता का अस्तित्व नहीं देखा जाता है, इसलिए मनुष्य आवश्यक रूप से अपने मूल्यों की सृष्टि करता है, अपना मापदंड एवं लक्ष्य बनाता है, अपने मोक्ष के लिए कार्यक्रम बनाता है। मनुष्य की अपनी शक्ति एवं बुद्धि से परे कुछ भी नहीं है, इसलिए अपनी सहायता के लिए अपने से बाहर नहीं देख सकता, इसी रूप में उसे अपने या समाज के बाहर किसी भी निर्णय के प्रति समर्पण करने की आवश्यकता नहीं है।^५ अतः मानव-स्वतंत्रता मानववाद का आधार है, क्योंकि ईश्वर या ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने पर मानव सुखी नहीं रह सकता। इतना ही नहीं ईश्वर या ईश्वर में विश्वास मनुष्य के उत्तरदायित्व को भी समाप्त कर देता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य ही अपने मूल्यों का निर्धारण करता है। कैपलेस्टन ने अपनी पुस्तक में लिखा है- मनुष्य का सर्वप्रथम अस्तित्व देखा जाता है और तभी वह अपने को परिभाषित करता है। वह अपनी स्वतंत्र इच्छाओं द्वारा स्वयं को निर्मित करता है। वह सिर्फ उसी के लिए उत्तरदायी होता है जिसका निर्माण वह स्वयं करता है। मनुष्य मूल्यों का स्रष्टा भी है और द्रष्टा भी है। निरपेक्ष मूल्यों का कोई अस्तित्व नहीं है। सार्वभौम और आवश्यक नैतिक नियम का भी कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य अपने मूल्य का चयन स्वयं करता है।^६

उपर्युक्त मानववादी-दार्शनिक परम्परा में जैन दर्शन का भी नाम आता है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में एक जैन दर्शन ही है जो पूर्ण मानव-स्वतंत्रता की बात करता है। यह वह दर्शन है जो मानव-कल्याण, मानव की कर्तव्य परायणता, मानव-समता, मानव की महत्ता, उसकी चारित्रिक शुद्धि, सर्वमंगल की भावना, अहिंसक-प्रवृत्ति, सुदृढ़ एवं स्वच्छ आर्थिक व्यवस्था, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं नैतिक मूल्य, विश्वबन्धुत्व की भावना तथा ईश्वर का मानवीकरण आदि मानववादी चिन्तनों को अपने में समेटे हुए है। किन्तु जैन दर्शन के मानववादी दृष्टिकोण को समझने से पूर्व 'मानववाद' और 'मानवतावाद' के अंतर को समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि समान्यतया दोनों को एक मान लिया जाता है। जैसा कि प्रो० सागरमल जैन ने अपनी पुस्तक "जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन" में 'मानवतावादी सिद्धान्त और जैन आचार दर्शन' शीर्षक के अन्तर्गत पाश्चात्य मानववादी सिद्धान्त से तुलना करते हुए जैन दर्शन के शुद्ध मानववादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है, किन्तु 'मानववाद' की जगह पर उन्होंने मानवतावाद शब्द का प्रयोग किया है। डॉ० सुरेन्द्र वर्मा ने भी अपने लेख का शीर्षक "नैतिकता में मानवतावादी दृष्टिकोण" दिया है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने आधार स्वरूप मानववादी दृष्टिकोण की व्याख्या की है, किन्तु उनके प्रस्तुतीकरण

में कहीं-कहीं मानवतावादी दृष्टिकोण की भी झलक मिलती है, जैसे- मानवतावादी सहिष्णुता का आधार विभिन्न धार्मिक विश्वासों में निहित मौलिक एकता है जो सर्वव्यापी और आवश्यक रूप में नैतिक है। धर्मों की यही सर्वव्यापी नैतिकता मानवतावादी सहिष्णुता को सम्भव बनाती है।” (विश्व ज्योति, सितम्बर, ९५, पृ०-२३)। डॉ० वर्मा का यह कथन भारतीय दृष्टि से तो ठीक है, क्योंकि जो नैतिक शुभ है, वही धर्म है और जो धर्म है वही नैतिक शुभ है। किन्तु पाश्चात्य दृष्टि में धर्म और नैतिकता को अलग-अलग रूप में देखा जाता है। वहाँ धर्म का सम्बन्ध भावना से है जबकि नैतिकता का सम्बन्ध कर्तव्य से है। धर्म का आधार विश्वास या श्रद्धा है जबकि नैतिकता का आधार बौद्धिकता है, विवेक है। इसी प्रकार डॉ० एल०के०एल० श्रीवास्तव ने अपने निबन्ध का शीर्षक तो “जैन धर्म: मानवतावादी दृष्टिकोण: एक मूल्यांकन” (श्रमण, १९८९, अंक-३) दिया है, किन्तु उन्होंने जैन दर्शन के मानववादी एवं मानवतावादी दोनों दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया है। एक ओर उन्होंने साधक को बिना ईश्वरीय कृपा के अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने पर बल दिया है, तो दूसरी ओर ‘सव्वे सत्ता न हंतव्वा’ कहते हुए पूर्ण जीवदयावाद को भी प्रस्तुत किया है। उनके पूरे निबन्ध का अध्ययन करने के पश्चात् यह दृष्टिगोचर होता है कि डॉ० श्रीवास्तव ने मानववाद की अपेक्षा मानवतावाद को ज्यादा प्रस्तुत किया है। मानववाद और मानवतावाद के भेद-विज्ञान को मुनि श्री सुधासागर जी महाराज ने भी स्पष्ट किया है- आज के लोग मानववाद और मानवतावाद को एक मान रहे हैं। येन-केन-प्रकारेण अपनी जिंदगी की जिजीविषा पूर्ण करना मानववाद की परिभाषा में भले ही आ सकता है। लेकिन मानवतावाद तो “जियो और जीने दो” की बात सिखाता है। मानववाद एक खोज है और मानवतावाद उन खोजी हुई वस्तुओं में हेय-उपादेय की कल्पना कराता है। मानववाद एक जीवन है तो मानवतावाद जीवन जीने की कला है। मानववाद एक सृष्टि है तो मानवतावाद एक दृष्टि है। मानववादी दृष्टिकोण दूसरों का विनाश करके अपनी जिन्दगी जीता है, लेकिन मानवतावादी अपनी जिन्दगी मिटाकर भी दूसरों को जीने में सहायता करता है।^७ यहाँ पर मुनिश्री ने जैनदर्शन के मानवतावादी पक्ष पर विशेष बल दिया है

मानववाद और मानवतावाद में अंतर

१. मानववाद के लिए अंग्रेजी में ह्यूमेनिज्म (Humanism) तथा मानवतावाद के लिए (Humanitarianism) शब्द आता है।
२. मानवतावाद ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है, जबकि मानववाद में इसके लिए कोई स्थान नहीं है।
३. मानवतावाद मुख्यतः भावना पर आधारित है, जैसे- दया की भावना, करुणा की भावना, जबकि मानववाद बुद्धि पर आधारित है।

४. मानवतावाद का समर्थक विश्वबंधुत्व का प्रसार-प्रचार इसलिए करेगा कि हम सब ईश्वर की संतान हैं और ईश्वर द्वारा निर्मित होने के कारण मानव रिश्ते में भाई-भाई हैं। किन्तु मानववादी विश्वबंधुत्व की बात नैतिकता तथा वैज्ञानिकता के आधार पर करेगा।
५. मानवतावाद के अनुसार नैतिकता धर्म का पहला स्तर है जबकि मानववाद के अनुसार नैतिकता ही धर्म है।
६. मानवतावाद के अनुसार मनुष्य को स्वतंत्र और अपना भाग्यविधाता नहीं माना जा सकता क्योंकि मानवतावादियों के अनुसार सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ व सर्वव्यापी ईश्वर ही जगत् की हर गतिविधि का कर्ता है। जबकि मानववाद के अनुसार मानव स्वयं अपने पुरुषार्थ के बल पर ईश्वरत्व को प्राप्त करता है।
७. मानवतावाद के अनुसार सभी जीव समान हैं, अतः उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहिए, जबकि मानववाद का एकमात्र लक्ष्य मानव है।

मानववाद और मानवतावाद के उपर्युक्त अंतर को देखते हुए कहा जा सकता है कि दोनों में सैद्धान्तिक अंतर हो सकता है, लेकिन समग्रता की दृष्टि से देखें तो दोनों ही सिद्धान्तों का लक्ष्य मानवकल्याण है। मानव, दोनों के ही केन्द्र-बिन्दु में निहित है, मात्र सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने का तरीका अलग-अलग है।

मानववाद की विशेषताएँ

१. ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार मानववाद ईश्वर से संबंधित न होकर मनुष्य के हितों से संबंधित है।
२. मानववाद में मानव जीवन की व्याख्या एक विशेष दिशा में की जाती है।
३. मानववाद एक नैतिक दर्शन है और नैतिकता उसका एकमात्र आधार है।
४. मानववाद सभी अलौकिक, अतिप्राकृतिक तथा प्रभुतावादी शक्तियों का विरोध करता है।
५. इसके अनुसार समीक्षात्मक बुद्धि तथा वैज्ञानिक बुद्धि हमारे नैतिक मूल्यों की पुनर्चना में सहायक हो सकते हैं।
६. मानववाद, मानवजीवन की समस्याओं को महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति है।
७. विश्व में मानव को सर्वोत्तम स्थान देने की प्रवृत्ति है।

मानववाद और मानवतावाद में अंतर देखने के पश्चात् यह शंका उठ सकती है कि जैनदर्शन पूर्ण अहिंसावादी और पारलौकिकतावादी है फिर हम उसे मानववादी कैसे कह सकते हैं? अहिंसा के सम्बन्ध में समाधान हम आगे 'मानववाद और अहिंसावाद' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगे। जहाँ तक पारलौकिकता के प्रत्यय को स्वीकार करने

की बात है तो यह स्पष्ट है कि जैन दार्शनिक पारलौकिकता को स्वीकार करते हुए भी वर्तमान जीवन के प्रति उदासीन नहीं हैं। प्रो० सागरमल जैन के शब्दों में- “नैतिक साधना का पारलौकिक सुख की कामना से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि पारलौकिक सुख-कामना की दृष्टि से किया गया नैतिक कर्म दूषित होता है। जैन दार्शनिक नैतिक साधना को न ऐहिक सुखों के लिए और न पारलौकिक सुखों के लिए मानते हैं, वरन् उनके अनुसार तो नैतिक साधना का एकमात्र साध्य है- आत्मविकास एवं आत्मपूर्णता।^८

मानव की महत्ता

मानव की महत्ता को न केवल जैनागमों में बल्कि वैदिक ग्रन्थों एवं बौद्ध साहित्यों में भी स्वीकार किया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है- न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्^९ अर्थात् मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। धम्मपद में कहा गया है “किञ्चे मणुस्स पटिलाभो” अर्थात् मनुष्य जन्म दुर्लभ है।^{१०} गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानव की दुर्लभता को बताते हुए कहा है- “बड़े भाग मानुस तन पावा”। सच, सुकर्मों के परिणामस्वरूप ही यह मानव तन प्राप्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में मानव की गरिमा को बताते हुए कहा गया है- जब अशुभ-कर्मों का विनाश होता है तब आत्मा शुद्ध, निर्मल और पवित्र होती है और तभी उसे मानव जन्म की प्राप्ति होती है।^{११} कितनी ही योनियों में भटकने के बाद यह मानव शरीर प्राप्त होता है। तभी तो महावीर ने कहा है- “चिरकाल तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् बड़ी कठिनाई से सांसारिक जीवों को मनुष्य का जन्म प्राप्त होता है, सहज नहीं है। दुष्कर्म का फल बड़ा भयंकर होता है। अतएव हे गौतम! क्षण भर के लिए भी प्रमाद मत कर।”^{१२} इतना ही नहीं जैन चिन्तन में मानव को अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तानन्द वाला माना गया है। प्रत्येक मनुष्य में देवत्व प्राप्त करने की जन्मजात क्षमता होती है। प्रत्येक वर्ण एवं वर्ग का व्यक्ति इस पूर्णता की प्राप्ति का अधिकारी है।

मानववाद और कर्मवाद

कर्म के विषय में जितनी विस्तृत और सूक्ष्म व्याख्या जैन दर्शन में की गयी है उतनी शायद ही किसी अन्य दर्शनों में की गयी हो। कर्मवाद का एक सामान्य नियम है पूर्व में किये गये कर्मों के फल को भोगना तथा नये कर्मों का उपार्जन करना। इसी पूर्वकृत कर्मों के भोग और नवीन कर्मों के उपार्जन की परम्परा में प्राणी जीवन व्यतीत करता रहता है। किन्तु प्रश्न उठता है कि कर्मवाद में कहीं पर व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता के उपयोग का भी अवसर प्राप्त होता है या मशीन की भाँति पूर्व कृत कर्मों के फल को भोगता हुआ तथा नवीन कर्मों का बन्ध करता हुआ गतिशील रहता है? ऐसा नहीं कहा जा सकता बल्कि कर्म सिद्धान्त के अन्तर्गत इच्छा-स्वातंत्र्य को स्थान दिया गया है। वह इस रूप में कि पूर्वकृत कर्मों का फल किसी न किसी रूप में अवश्य भोगना

पड़ता है, किन्तु नये कर्मों के उपार्जन करने में वह किसी सीमा तक स्वतंत्र है। यह सत्य है कि कृतकर्म का भोग किये बिना जीव को मुक्ति नहीं मिल सकती, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि प्राणी अमुक समय में अमुक कर्म ही उपार्जित करे। वह बाह्य परिस्थिति एवं अपनी आन्तरिक शक्ति को ध्यान में रखते हुए नए कर्मों का उपार्जन रोक सकता है। इन बातों से स्पष्ट होता है कि कर्मवाद में इच्छा-स्वातंत्र्य तो है किन्तु सीमित है, क्योंकि कर्मवाद के अनुसार प्राणी अपनी शक्ति एवं बाह्य परिस्थितियों की अवहेलना करके कोई कार्य नहीं कर सकता। जिस प्रकार वह परिस्थितियों का दास है उसी प्रकार उसे अपने पराक्रम की सीमा का भी ध्यान रखना पड़ता है। जैन विद्वान् पद्मनाभ जैनी के अनुसार- “जैन धर्म मनुष्य को पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता देने में हर अन्य धर्म से बढ़कर है। जो कुछ कर्म हम करते हैं और उनके जो फल हैं उनके बीच कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। एक बार कर लिये जाने पर कृतकर्म हमारे प्रभु बन जाते हैं और उनके फल भोगने ही पड़ते हैं। मेरा स्वातंत्र्य जितना बड़ा है उतना ही बड़ा मेरा दायित्व भी है। मैं स्वेच्छानुसार चल सकता हूँ, किन्तु मेरा चुनाव अन्यथा नहीं हो सकता और उसके परिणामों से मैं बच नहीं सकता।”^{१३} कर्म के आधार पर व्यक्ति देवत्व को प्राप्त करता है- अर्थात् मानव स्वयं अपना भाग्यविधाता है। ईश्वर आधारित धर्म की विशेषता यह होती है कि वे ईश्वर को मनुष्य के स्तर की ओर खींचते हैं, परन्तु जो धर्म ईश्वर पर आधारित नहीं हैं वे मनुष्य को ईश्वर के स्तर में उठाना चाहते हैं। अर्थात् ईश्वर-निर्भर धर्म की विशेषता यह है कि इसमें मनुष्य का आदर्श है- आदर्श मानव। ईश्वर-निर्भरधर्म में कर्म के साथ-साथ ईश्वर की कृपा भी आवश्यक है किन्तु जैन धर्म-दर्शन में ईश्वर की कृपा या हस्तक्षेप का कोई सिद्धान्त नहीं है। यदि मैं चोरी करूँ, झूठ बोलूँ तो उसका दायित्व मेरा है, ईश्वर का नहीं और इसका फल भी मुझे ही भोगना पड़ेगा। ईश्वर में जिन शक्तियों और विशेषताओं की कल्पना की जाती है, वे सब ही जीव में विद्यमान हैं, अतः जैन धर्म आत्म-निर्भरता की शिक्षा देता है।

जैन कर्म-सिद्धान्त की ही भाँति मानववाद भी इच्छा-स्वातंत्र्य को मानता है। इच्छा-स्वातंत्र्य का यह अभिप्राय नहीं है कि जो मन में आये वही करें। ऐसे इच्छा-स्वातंत्र्य के लिए न तो मानववाद में कोई स्थान है और न ही जैन कर्मवाद में। जिस प्रकार जैन कर्मवाद यह स्वीकार करता है कि मानव स्वयं अपना भाग्यविधाता है उसी प्रकार मानववाद भी मानता है कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ के बल पर बिना किसी दैविक शक्ति के ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है। साथ ही मानववाद कर्म के औचित्य और अनौचित्य का निर्धारण समाज पर उसके परिणाम के आधार पर करता है। इसी प्रकार जैन दर्शन व्यवहार-दृष्टि से कर्म-परिणाम को और निश्चय-दृष्टि से कर्म-प्रेरक को औचित्य और अनौचित्य के निर्णय का आधार मानता है।

मानववाद और अपरिग्रहवाद

मानववाद आर्थिक समानता में विश्वास करता है। मानववादी दृष्टिकोण में आर्थिक क्रियाएँ समस्त मानवीय चिन्तन और प्रगति की केन्द्र-बिन्दु हैं। वस्तुतः मानववाद के अनुसार आर्थिक विषमता ही सामाजिक विषमता का मूल कारण है। इस आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए ही जैन दर्शन ने अपरिग्रह का सिद्धान्त दिया है। परिग्रह, जिसे संग्रहवृत्ति भी कहा जाता है, एक प्रकार की सामाजिक हिंसा है। यह परिग्रहवृत्ति आसक्ति से उत्पन्न होती है। आसक्ति का दूसरा नाम लोभ है। लोभ समग्र सद्गुणों का विनाशक है।^{१४} तृष्णा के स्वरूप को बताते हुए **उत्तराध्ययनसूत्र** में कहा गया है- यदि सोने और चाँदी के कैलास पर्वत के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिये जायें तो भी यह दुष्पूर्य तृष्णा शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो वह सीमित ही है और तृष्णा अनन्त और असीम है, अतः सीमित साधनों से इस असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।^{१५} जैन आचार दर्शन के अनुसार व्यक्ति आसक्ति की भावना का त्याग करके अनासक्ति को जीवन में उतारने का प्रयत्न करे, क्योंकि जो संविभाग और संवितरण नहीं करता उसकी मुक्ति संभव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी है।^{१६} अतः व्यक्ति को उतना ही संग्रह करना चाहिए जितने की उसको आवश्यकता है। आवश्यकता से तात्पर्य है- जो जीवन को बनाये रखे और व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को कुंठित न करे। इस प्रकार जैन दर्शन न केवल आवश्यकता का परिसीमन करता है बल्कि यह भी बताता है कि हमें जीवन की अनिवार्यताओं और तृष्णा के अन्तर को जानना एवं समझना चाहिए। तृष्णा अनन्तता है तो अनिवार्यता सीमितता। संग्रह और शोषण की दुष्प्रवृत्तियों के फलस्वरूप आर्थिक एवं वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है। इस वर्ग-संघर्ष को दूर करने का एकमात्र उपाय है- अपरिग्रह का सिद्धान्त। साधक हो या गृहस्थ, उसे अपरिग्रह के मार्ग पर चलने को जैन आचार दर्शन में आवश्यक माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानववाद और जैन चिन्तन दोनों ही मानव मात्र की समानता में विश्वास करते हैं। दोनों के अनुसार संग्रह एवं वैयक्तिक परिग्रह सामाजिक जीवन के लिए अभिशाप है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को जीने का समान अधिकार है।

मानववाद और अनैकान्तिक दृष्टि

सामाजिक विषमता का एक प्रमुख कारण वैचारिक भिन्नता भी है। अनेकान्तवाद इस वैचारिक भिन्नता को दूर करता है। अनेकान्तवाद वह सिद्धान्त है जो अनेक में विश्वास करता है। अनेक से तात्पर्य है- अनेक धर्म (लक्षण), अनेक सीमाएँ, अनेक अपेक्षाएँ, अनेक दृष्टियाँ आदि। जो किसी एक धर्म, एक सीमा, एक अपेक्षा तथा एक दृष्टि को सत्य मानता है और अन्य दृष्टियों को गलत कहता है, वह एकान्तवादी कहलाता है तथा जो अनेक धर्मों या अपेक्षाओं को मान्यता प्रदान करता है, वह अनेकान्तवादी

कहलाता है। “अनन्तधर्मात्मकं वस्तु” अर्थात् वस्तु के अनन्त धर्म होते हैं। उन अनन्त धर्मों में से व्यक्ति अपने इच्छित धर्मों का समय-समय पर कथन करता है। वस्तु के उन अनन्त धर्मों के दो प्रकार होते हैं- ‘गुण’ और ‘पर्याय’। जो धर्म वस्तु के स्वरूप का निर्धारण करते हैं अर्थात् जिनके बिना वस्तु का अस्तित्व कायम नहीं रह सकता उन्हें गुण कहते हैं, जैसे- मनुष्य में-‘मनुष्यत्व’, सोना में ‘सोनापन’। मनुष्य में यदि मनुष्यत्व न हो तो वह और कुछ हो सकता है, मनुष्य नहीं। इसी प्रकार यदि सोना में ‘सोनापन’ न हो तो वह अन्य कोई द्रव्य हो सकता है, सोना नहीं। गुण वस्तु में स्थायी रूप से रहता है, जबकि पर्याय बदलते रहते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन स्थायित्व और अस्थायित्व का समन्वय करते हुए कहता है कि वस्तु गुण की दृष्टि से ध्रुव है, स्थायी है तथा पर्याय की दृष्टि से अस्थायी है। **व्याख्याप्रज्ञप्ति**^{१७} में कहा गया है- हम, जो अस्ति है उसे अस्ति कहते हैं, जो नास्ति है उसे नास्ति कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ है भी और नहीं भी है। अपने निज-स्वरूप से है और पर-स्वरूप से नहीं है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता, पिता-रूप में सत् है और पर-रूप की अपेक्षा से पिता, पिता-रूप में असत् है। यदि पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता ही है तो वह सारे संसार का पिता हो जायेगा, जो असम्भव है। इसे और भी सरल भाषा में हम इस प्रकार कह सकते हैं- गुड़िया चौराहे पर खड़ी है। एक ओर से छोटा बालक आता है, वह उसे माँ कहता है। दूसरी ओर से एक वृद्ध आता है, वह उसे पुत्री कहता है। इसी प्रकार कोई उसे ताई, कोई मामी तो कोई फूफी कहता है। सभी एक ही व्यक्ति को विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं तथा परस्पर संघर्ष करते हैं कि यह माँ ही है, पुत्री ही है, पत्नी ही है आदि। इस संघर्ष का समाधान अनेकान्तवाद करता है। वह कहता है कि यह तुम्हारे लिए माँ है, क्योंकि तुम इसके पुत्र हो; अन्य लोगों के लिए यह माँ नहीं है। वृद्ध से कहता है कि यह पुत्री भी है, आपकी अपेक्षा से, सब लोगों की अपेक्षा से नहीं। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं। तात्पर्य है हम जो कुछ भी कहते हैं उसकी सार्थकता एवं सत्यता एक विशेष सन्दर्भ में तथा एक विशेष दृष्टिकोण से ही हो सकती है। केवल अपनी ही बात को सत्य मानकर उस पर अड़े रहना तथा दूसरों की बात को कोई महत्व न देना एक मानसिक संकीर्णता है और इस मानसिक संकीर्णता के लिए मानववाद में कोई स्थान नहीं है।

मानववाद और अहिंसावाद

अहिंसा का सामान्य अर्थ होता है ‘हिंसा न करना’। **आचारंगसूत्र** में अहिंसा को परिभाषित करते हुए कहा गया है-“सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और तत्त्वों को नहीं मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति द्वारा मरवाना चाहिए, न बलात् पकड़ना चाहिए, न परिताप देना चाहिए, न उन पर प्राणहार उपद्रव करना चाहिए। यह अहिंसा धर्म ही शुद्ध है।^{१८} **सूत्रकृतांग** के अनुसार- “ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी

की हिंसा न करें। अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है बस, इतनी बात ध्यान में रखनी चाहिए।^{१९} किन्तु अहिंसा की पूर्ण परिभाषा **आवश्यकसूत्र** में प्राप्त होती है। उसमें कहा गया है कि किसी भी जीव की तीन योग और तीन करण से हिंसा नहीं करनी चाहिए, यही अहिंसा है।^{२०} मन, वचन और कर्म तीन योग कहलाते हैं तथा करना, करवाना और अनुमोदन करना तीन करण कहलाते हैं। इस तरह नौ प्रकार से हिंसा नहीं करना ही अहिंसा है। अहिंसा के दो रूप होते हैं- निषेधात्मक और विधेयात्मक। इन्हें निवृत्ति और प्रवृत्ति भी कहा जाता है। दया, दान आदि अहिंसा के प्रवृत्त्यात्मक रूप हैं। यहाँ अहिंसा की विस्तृत व्याख्या न करके इतना कहना आवश्यक है कि जैन परम्परा में हर गतिशील वस्तु, चाहे वह जल, वायु, ग्रह-नक्षत्र ही क्यों न हो या पत्थर, वृक्ष जैसी गतिशून्य वस्तु ही क्यों न हो, उनमें भी जीवनशक्ति को स्वीकार किया गया है। यहाँ पर शंका उपस्थित हो सकती है कि जैन दर्शन पूर्ण जीवदयावाद या पूर्ण अहिंसा में विश्वास करता है फिर वह मानववादी कैसे हो सकता है? यह सच है कि जैन दर्शन पूर्ण अहिंसा में विश्वास करता है और इस दृष्टि से यहाँ उसका दृष्टिकोण मानवतावादी (Humanitarianistic) हो जाता है, लेकिन मात्र इस आधार पर जैन दर्शन का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कई सन्दर्भों में तो वह मानववाद से भी आगे है। जैन धर्म अहिंसा के निषेधात्मक रूप पर ही विशेष बल देता है। पूर्व काल में जैनाचार्यों ने अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को ही प्रस्तुत किया है और आज भी श्वेताम्बर तेरापंथी जैन समाज अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को ही मानता है। अहिंसा के विधेयात्मक पक्ष दया, दान आदि में उनका विश्वास नहीं है। जो जैन परम्परा के मानववादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। यदि मात्र अहिंसा के सिद्धान्त को लेकर सम्पूर्ण जैन दर्शन की व्याख्या करेंगे तो यह उसके प्रति अन्याय होगा। अहिंसा सिद्धान्त के अनुसार सभी जीव समान हैं, अतः किसी को दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए। किन्तु मानववाद के अनुसार मनुष्य की सत्ता ही प्रधान है यदि किसी विषैली दवा का अविष्कार होता है तो मानववादी के अनुसार उसका प्रथम प्रयोग मनुष्य को छोड़कर अन्य किसी भी जीव पर किया जा सकता है, जबकि मानवतावाद इसकी इजाजत नहीं देता। अतः अहिंसा सिद्धान्त मानववाद (Humanism) की कसौटी पर पूर्णतः खरा नहीं उतरता ।

मानववाद और जैन दर्शन की विश्वदृष्टि

लोमोण्ट एक प्रजातांत्रिक मानववादी हैं। उनके अनुसार मानववाद मानव जाति का विश्वदर्शन है। यही एक दर्शन है जो बीसवीं शताब्दी की आत्मा और उसकी आवश्यकताओं के लिए उपयोगी है। यह वह दर्शन है जो मानव जीवन और उसके अस्तित्व का सामान्यीकरण है, जो प्रायः सभी देशों और जातियों को समष्टिपूर्ण दृष्टिकोण प्रदान कर सकता है। जैन धर्म-दर्शन भी लोकमंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ता है। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का सिद्धान्त उसकी विश्वदृष्टि

ही तो है। अहिंसा की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए **प्रश्नव्याकरणसूत्र** में कहा गया है- यह अहिंसा भयभीतों के लिए शरण के समान है, पक्षियों के लिए आकाशगमन के समान, प्यासों के लिए पानी के समान, भूखों के लिए भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है।^{२१} तीर्थकर-नमस्कारसूत्र में लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभयदाता आदि विशेषण तीर्थकर के लिए प्रयुक्त हुए हैं जो जैन दर्शन की विश्वदृष्टि को प्रस्तुत करते हैं।^{२२} विश्वकल्याण की भावना के अनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही तो तीर्थकर को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। जैनाचार्यों ने सदा ही आत्महित की अपेक्षा लोककल्याण को महत्त्व दिया है। यह भावना आचार्य समन्तभद्र की इस उक्ति से स्पष्ट होती है- हे भगवन्, आपकी यह संघ-व्यवस्था सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करनेवाली और सबका कल्याण करने वाली है।^{२३} संघधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, कुलधर्म आदि का **स्थानांगसूत्र**^{२४} में उल्लेख होना यह प्रमाणित करता है कि जैन धर्म दर्शन-लोकहित, लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत है।

मानववाद और जैन दर्शन का समतावादी दृष्टिकोण

मानववाद और जैनदर्शन दोनों ही समतावाद में विश्वास करते हैं। दोनों की मान्यता है कि समाज में विभिन्न वर्ग और विचारधारा के लोग रहते हैं लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं है कि मानव, मानव से अलग है। दोनों ही मनुष्य हैं, दोनों में मनुष्यता का वास है। व्यक्ति न तो जन्म से और न ही जाति से ऊँचा-नीचा है बल्कि ये सभी अन्तर कर्म के आधार पर होते हैं। कर्म के द्वारा ही वह उच्च पद को प्राप्त करता है और कर्म के द्वारा ही पतन की ओर अग्रसर होता है। जैन परम्परा में इस तरह के कई उदाहरण मिलते हैं। जैन मुनि हरिकेशबल जन्म से चाण्डाल कुल के थे जिसके कारण उन्हें चारों ओर से भर्त्सना और घृणा के सिवा कुछ न मिला। वे जहाँ भी गये, वहाँ उन्हें अपमान-रूप विष का प्याला ही मिला। लेकिन जब उन्होंने जीवन की पवित्रता का सही मार्ग अपना लिया तो वही वन्दनीय और पूजनीय हो गये। भगवान् महावीर ने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है-

कम्मुणा बंभणों होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।

वइस्सो कम्मुणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मुणा।।^{२५}

अर्थात् कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है। कर्म से ही क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है। अतः श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार, जाति नहीं बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है। मुनि चौथमलजी के मतानुसार एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञानी और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और

सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाजघातक है। जैन विचारणा में इस विषमता के लिए कोई स्थान नहीं है। वस्तुतः सभी व्यक्ति जन्मतः समान हैं। उनमें धनी अथवा निर्धन, उच्च अथवा निम्न का कोई भेद नहीं है। **आचारांगसूत्र** में स्पष्ट कहा गया है कि साधना-मार्ग का उपदेश सभी के लिए समान है। जो उपदेश एक धनवान या उच्चकुल के व्यक्ति के लिए है, वही उपदेश गरीब या निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए है। इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन ने जातिगत आधार पर ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार कर मानव मात्र की समानता पर बल दिया है।

मानववाद और जैन ईश्वरवाद

ईश्वरवादियों की यह मान्यता है कि ईश्वर इस जगत् का सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता है। जीवों को नाना योनियों में उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और अपने-अपने कर्म के अनुसार फल देना ईश्वर का कार्य है। वही जीवों का भाग्यविधाता है। वह अपने भक्त की स्तुति या पूजा से प्रसन्न होकर उसके सारे अपराधों को क्षमा कर देता है।

जैन दर्शन में उपर्युक्त ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। जैन दर्शन का ईश्वर न तो किसी की स्तुति से प्रसन्न होता है और न नाराज ही होता है, क्योंकि वह वीतरागी है। जैन दर्शन न तो ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व में विश्वास करता है, न ही उसके अनादि सिद्धत्व में और न ही उसके अनुसार ईश्वर एक है। जैन मान्यता के अनुसार प्राणी स्वयं अपने कर्मों द्वारा सुख-दुःख को प्राप्त करता है तथा बिना किसी दैवी कृपा के स्वयं अपने प्रयत्न से अपना विकास करके ईश्वर बन सकता है। ईश्वर-पद किसी व्यक्ति विशेष के लिए सुरक्षित नहीं है बल्कि सभी आत्माएँ समान हैं और सब अपना विकास करके सर्वज्ञता और ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य होता है। अतः गुण की दृष्टि से आत्मा अर्थात् साधारण जीव और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर है तो गुणों की प्रसुप्तावस्था का और उसके विकासावस्था का। जैन मान्यता के अनुसार ईश्वर के स्वरूप को निर्धारित करते हुए श्री ज्ञान मुनि जी ने लिखा है- 'यह सत्य है कि जैन दर्शन वैदिक दर्शन की तरह ईश्वर को जगत् का कर्ता, भाग्यविधाता, कर्मफलदाता तथा संसार का सर्वेसर्वा नहीं मानता है। जैन दर्शन का विश्वास है कि ईश्वर सत्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है। उसका दृश्य या अदृश्य जगत् के विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई हस्तक्षेप नहीं है। वह जगत् का निर्माता नहीं है, भाग्यविधाता नहीं है, कर्म-फल का प्रदाता नहीं है तथा वह अवतार लेकर मनुष्य या किसी अन्य पशु आदि के रूप में संसार में आता भी नहीं है।''^{२६}

इस प्रकार जैन दर्शन और मानववाद (Humanism) दोनों ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न करके मानव-अस्तित्व और उसके पुरुषार्थ में विश्वास करते हैं। दोनों ही मानते हैं कि मानव में ईश्वरत्व को प्राप्त करने की क्षमता निहित है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है जैन दर्शन एक मानववादी दर्शन है। जिस मानववादी दर्शन का सूत्रपात पाश्चात्य जगत् में प्रोटागोरस ने ई०पू० पाँचवी-छठी शती में मैन इज दि मेजर ऑफ ऑल थिंग्स (Man is the measure of all things) कहकर किया था, वह मानववादी दर्शन हमारी भारतीय परम्परा के जैन दर्शन में उसके पूर्व से विद्यमान था, जो हमारे लिए गौरव का विषय है।

संदर्भ

१. Humanism in Philosophy is opposed to Naturalism and Absolutism: it designates the philosophic attitude which regards the interpretation of human experience as the primary concern of philosophizing, and asserts the adequacy of human knowledge for this purpose. *Encyclopaedia of Ethics & Religion* Vol-VI, P. 830.
२. *The Philosophy of Humanism*, p. 8
३. *Encyclopaedia of Humanities* (Philosophy), p.97
४. *Ibid*
५. *God and Secularity*, P. 103-104
६. *Philosopher's and Philosophies*, P. 165-166
७. **जयोदय महाकाव्य परिशीलन**, संपा० डॉ० रमेशचन्द्र जैन, दिगम्बर जैन समाज, मदनगंज, किशनगढ़, १९९५, पृ०-३३
८. **जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन**, डॉ० सागरमल जैन, राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, भाग १, १९८२, पृ०-१४०
९. शांतिपर्व (महाभारत), संपा- पं० रामनारायण दत्त पाण्डेय, गीताप्रेस, गोरखपुर. २९९/२०
१०. किच्चे मणुस्स पटिलामो। धम्मपद, संपा- पं० रामनारायण दत्त पाण्डेय, गीताप्रेस, गोरखपुर १८२
११. कम्मार्णं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइउ। जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं। **उत्तराध्ययन**, संपा- मधुकर मुनि जिनागम ग्रंथमाला, ग्रंथांक- १९, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९४; ३/७

२६ श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

१२. दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।

गाढा य विवाग कम्मणो, समयं गोयम! मा पमायए। वही १०/४

१३. Jainism more than any other creed gives absolute religious independence and freedom to man. Nothing can intervene between actions which we do and the fruits there of. Once done they become our masters and must fructify. As my independence is great. So my responsibility is coextensive with it. I can live as I like; but my choice is irrevocable and I can not escape the consequences of it.

Outlines of Jainism, p.3-4

१४. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।

माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो।।

दशवैकालिक, संपा०- मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, ८/३८

१५. सुवण्ण-रूपस्स उ पव्वयाभवे सियाहु केलाससमा असंख्या।

नरस्स लुद्धस्स नतेहिं, किंचि इच्छउ आगाससमा अणन्तिया।। **उत्तराध्ययन-९/४८**

१६. असंविभागी अचियत्ते। **वही-१७/११**

१७. नो खलु वयं देवाणुप्पिया! अत्थिभावं नत्थि त्ति वदामो, नत्थिभावं

अत्थि त्ति वदामो अम्हे णं देवाणुप्पिया! सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति

वदामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थी त्ति वदामो। **व्याख्याप्रज्ञप्ति**, संपा०- मधुकर मुनि,

जिनागम ग्रंथमाला, ग्रंथांक- १८; आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; १९८३

७/१०/६/२

१८. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता,

न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघितव्वा,

न परियावेयव्वा, न उद्देवेयव्वा, एस धम्मे सुद्धे। **आचारांगसूत्र**- संपा०- मधुकर

मुनि, जिनागम ग्रंथमाला, ग्रंथांक- १; आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०;

१/४/१

१९. एवं खलु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचण।

अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया।। **सूत्रकृतांग**- संपा०- मधुकर मुनि,

जिनागम ग्रंथमाला, ग्रंथमाला-९, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८२; १/

१/४/१०

२०. करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खमि जावज्जीवाए,

तिविहं तिविहेणं-मणेणं वायाए, काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि

अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि, निंदांमि गरिहामि

अप्पाणं वोसिरामि। **आवश्यकसूत्र** संपा०- मधुकर मुनि, १/१

२१. एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरणं, पक्खीणं विव

गमणं, तिसियाणं विव सलिलं, खुहियाणं विव असणं, समुद्धमज्जे व पोयवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहिट्टयाणं व ओसहिबलं, अऽवीमज्जे व सत्थ गमणं, जो विसिट्ठतरिया अहिंसा जा सा।

प्रश्नव्याकरण- संपा०- मधुकर मुनि, २/१/१०८

२२. नमोत्थुणं अरहंताणं.....लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं..... णमों जिणाणं जियभयाणं।

पहली किरण, साध्वी श्री राजीमती जी , पृ०-३०-३१.

२३. **सर्वोदय दर्शन,** आमुख पृ०-६

२४. दसविधे धम्मे पण्णत्ते, तं जहा- गामधम्मे, णगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पासंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे। **स्थानांगसूत्र-** संपा०- मधुकर मुनि, १०/१३५

२५. **उत्तराध्ययन-** संपा०- मधुकर मुनि, २५/३३

२६. **मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रंथ,** जोधपुर १९६८, द्वितीय खण्ड, पृ०-७७





जैन दर्शन और कबीर: एक तुलनात्मक अध्ययन

-डॉ० साध्वी मंजूश्री

सम्पूर्ण भारतीय दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जाता रहा है- वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वेद की परम्परा में विश्वास रखने वाले न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त ये छः दर्शन वैदिक दर्शन हैं। वेद को प्रमाण न मानने वाले तीन अवैदिक दर्शन हैं- जैन, बौद्ध और चार्वाक।

हरिभद्रसूरि के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की टीका में गुणरत्नसूरि ने कहा है- कि आत्मा, संसार (जन्म-मरण), मोक्ष और मोक्ष के मार्ग में जो विश्वास करता है, वही आस्तिक है। अगर इस दृष्टि से देखा जाय तो केवल चार्वाक दर्शन को तथा बौद्ध दर्शन के केवल उस सम्प्रदाय को, जो आत्मा का अस्तित्व नहीं मानता, नास्तिक कहा जा सकता है। अन्य सभी भारतीय दर्शन जिनमें जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन भी सम्मिलित हैं, आत्मा को मानते हैं, आत्मा के आवागमन को मानते हैं, मोक्ष और मोक्ष के उपाय को भी मानते हैं। फिर, जैनदर्शन को नास्तिक क्यों कहा जाए? जैन दर्शन उतना ही आस्तिक या नास्तिक है, जितना अन्य कोई हिन्दू दर्शन।

कुछ विद्वानों ने जैन और बौद्ध दर्शन अर्थात् श्रमण-संस्कृति को वैदिक संस्कृति दर्शन की शाखा के रूप में स्वीकार किया है, जो उचित नहीं है। क्योंकि ऐतिहासिक तथा आधुनिक शोध के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण संस्कृति का अस्तित्व वैदिक संस्कृति से भी पुराना है। जैन एवं बौद्धमत एक ही हैं अथवा जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा मात्र है, ये भ्रममूलक धारणाएँ भी अब खण्डित हो चुकी हैं।

जैन परम्परा के अनुसार, जैनदर्शन का उद्भव महावीर से नहीं, अपितु प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ। महावीर तो २४वें तीर्थंकर थे, जो भगवान् ऋषभदेव की इस प्राचीनतम परम्परा के सुधारक या पुनरुद्धारक मात्र थे, इस प्रकार के पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं, जो भगवान् ऋषभदेव को प्राग्वैदिक सिद्ध करते हैं और जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव को संसार के प्राचीनतम ग्रंथ वेदों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। श्रीमद्भागवत से भी इस बात का समर्थन होता है कि ऋषभदेव जैनमत के संस्थापक थे।

जिस प्रकार बौद्ध बुद्ध के अनुयायी हैं, शैव शिव के तथा वैष्णव विष्णु के, उसी प्रकार जैन 'जिन' के अनुयायी कहे जाते हैं। 'जिन' शब्द किसी व्यक्ति का नहीं, अपितु गुणों का वाचक है, अवतारवाद की नहीं, अपितु उत्तारवाद की प्रतिष्ठा करता है और इस प्रकार प्रकारान्तर से मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का उन्नायक है।

मानवता के इतिहास में जैनधर्म-दर्शन ने सदा से ही विश्व-मानव की सेवा की है। अनेकों बार राज्याश्रय मिला, तब भी बिना किसी भेदभाव के अपनी उदार सर्वधर्म सहिष्णुता का इसने परिचय दिया है।

शिशुनागवंश, वैशाली गणतंत्र के शासक, नन्दवंश, अशोक के अतिरिक्त समस्त मौर्यवंशी राजा, दक्षिण के राष्ट्रकूट, गंग, कदम्ब तथा चालुक्य राजा, गुजरात के महाराजा जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल आदि राजाओं का तो यह राष्ट्रधर्म या कुलधर्म या निजीधर्म था।

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैनदर्शन का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। अपने प्रारम्भकाल में जैनधर्म-दर्शन ने वैदिक यज्ञों में विहित हिंसक क्रियाओं का घोर विरोध किया। लोकमान्य तिलक के शब्दों में 'भारत से हिंसात्मक यज्ञों का निर्मूलन करने का श्रेय जैनियों को है।^२ ऋग्वेद के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस विरोध को प्रारम्भ करने का श्रेय तत्कालीन ब्राह्मण-परम्परा को है, जिसे आगे चलकर महावीर ने पूर्णता प्रदान की।

जैन दर्शन को अवैदिक कहा जाता है, क्योंकि यह वेदों की अपौरुषेयता को स्वीकार नहीं करता। यह अपनी दर्शन-पद्धति को भी 'जिन' की दैवीय प्रेरणा का रूप नहीं देता। डॉ० राधाकृष्णन् के शब्दों में, 'इसका दावा केवल इतना ही है कि यह दर्शन चूँकि यथार्थता के अनुकूल है, इसलिए इसे स्वीकार करना चाहिए।'^३

जैनधर्म की दो बड़ी विशेषताएँ अहिंसा और तप हैं। 'जैनधर्म का अहिंसावाद वेदों से निकला है'- ऐसा कहकर कुछ विद्वान् जैन-अहिंसा-सिद्धान्त को वेदों से उधार लिया हुआ मानते हैं। लेकिन उन्हें शायद यह मालूम नहीं है कि ऋषभदेव और अरिष्टनेमि-जैनधर्म के इन दो तीर्थकरों का उल्लेख वेदों में मिलता है, जिन्होंने अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए अपने राजसी जीवन की सुख-सुविधाओं को भी ठोकर मार दी थी। जिनकी साधना का मेल ऋग्वेद की प्रवृत्तिमार्गी धारा से कथमपि नहीं बैठता। इसलिए तर्कसंगत यही है कि अहिंसा और तप की परम्परा प्राग्वैदिक थी, वेदों के गार्हस्थ्यप्रधान युग में वैराग्य, अहिंसा और तपस्या के द्वारा धर्म पालन करने वाले जो अनेक ऋषि थे, उनमें महायोगी, योगेश्वर, योग तथा तपमार्ग के प्रवर्तक श्री ऋषभदेव का अन्यतम

स्थान था और उनकी परम्परा में जो लोग अहिंसा तथा तपश्चर्या के मार्ग पर बढ़ते रहे, उन्होंने जैन धर्म का पथ प्रशस्त किया।^४ प्रश्न हो सकता है कि महावीर ने वेदों की अवहेलना क्यों की? इसका भी उत्तर दिनकर जी के शब्दों में यही है कि अहिंसा-धर्म और ब्राह्मणों के यज्ञवाद में कुछ तात्त्विक विरोध था और ब्राह्मण-सत्ता तथा यज्ञवाद की प्रभुता के मुकाबले में अहिंसा का खुलकर प्रचार करने के लिए यह आवश्यक था कि वेदों का विरोध किया जाए।

जैनदर्शन के सिद्धान्त

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् या पदार्थ उत्पाद्-व्यय-और ध्रौव्यात्मक है। अवस्थाओं के प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने पर भी मूलभूत द्रव्य ज्यों-का त्यों अवस्थित रहता है। जैसे-पुराना पानी चले जाने और नया पानी आते रहने पर भी गंगा गंगा ही रहती है।

जैनधर्म यह मानता है कि सृष्टि अनादि है और वह जिन छः तत्त्वों से बनी है, वे तत्त्व भी अनादि हैं। ये छः तत्त्व हैं- धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव और पुद्गल। इन छः तत्त्वों में से केवल पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है, जिसका अनुभव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से किया जा सकता है। इसलिए उसे 'मूर्त' द्रव्य कहते हैं। शेष पांच द्रव्य अमूर्त हैं। दूसरी बात यह है कि इन छहों द्रव्यों में से केवल जीव ही चेतनायुक्त है, शेष पाँचों द्रव्य अचेतन हैं।

जैनदर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल का संयोग ही संसार है। यहाँ दृश्यमान प्रकृति का विश्लेषण करके उसे आणविक रचना बतलाया गया है तथा जीव के निष्क्रिय किंवा मात्र साक्षी रूप की जगह उसे सक्रिय माना गया है, अर्थात् जीव स्वयं अपने कार्यों का कर्ता है और अपने सुख-दुःख का भोक्ता है, वह चाहे तो अपने प्रबल आत्म-पुरुषार्थ के बल पर पूरे जड़ जगत् से संबंध-विच्छेद करके पूर्णमुक्ति प्राप्त कर स्वयं परमात्मा बन सकता है। इस प्रक्रिया में किसी भी सृष्टिकर्ता ईश्वर की दखलन्दाजी जैनदर्शन को मान्य नहीं है। नैतिक मूल्यांकन के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य इस संसार में अपने को बना एवं बिगाड़ सकता है और यह कि आत्मा का एक पृथक् अस्तित्व है, जिसे वह अपने मोक्ष की अवस्था में अक्षुण्ण बनाए रखती है।

जैन-दर्शन की मुख्य विशेषताएँ हैं- इसका प्राणिमात्र का यथार्थरूप में वर्गीकरण, इसका ज्ञान-संबंधी सिद्धान्त जिसके साथ अनिवार्य रूप से संयुक्त हैं इसके प्रख्यात सिद्धान्त -अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सप्तभंगीनय और इसका संयमप्रधान आचारशास्त्र।

जैनदर्शन कर्म (पुरुषार्थ) के अनुसार वर्ण-व्यवस्था को मानता है, न कि जन्म के अनुसार। वह सब मनुष्यों में समानता का प्रतिपादक है। उसका कहना है कि सबको अपना विकास करने का समान अधिकार है, कोई उच्च या नीच नहीं है तथा स्त्री और शूद्र को भी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है।

जन्मगत जाति का मिथ्याभिमान और उसके कारण अन्य जातियों से पृथक रहने के विचार को जैन दर्शन ने दूषित ठहराया है। 'सूत्रकृतांग' जन्मपरक अभिमान की निन्दा करता है और उन आठ प्रकार के अभिमानों में इसकी गणना करता है, जिनके कारण मनुष्य पाप करता है।

अब हम कबीर के विचारों पर दृष्टिपात कर लें।

कबीर के समय में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों का व्यापक प्रचार था। 'सार-सार को गहि रहे' कहने वाले संत कबीर स्वयं सारग्राही थे, इसलिए उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को अनेकों मतों ने प्रभावित किया। इसीलिए आज तक भी अनेकों विद्वान् उनके दार्शनिक व्यक्तित्व के बारे में एकमत नहीं हो सके हैं। किसी ने उन्हें इस्लाम से प्रभावित माना, तो किसी ने सूफी मत से, तो किसी ने अद्वैत वेदान्त से, किसी ने द्वैताद्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत से और किसी ने कबीर पर किसी भी पंथ का प्रभाव मानने से इनकार कर दिया।

जबकि वस्तु स्थिति यह है कि कबीर सारग्राही तो थे ही, समन्वयात्मक दृष्टि सम्पन्न भी थे। उन पर किसी भी एक पंथ का पूर्ण प्रभाव नहीं था। उन्होंने सभी जगह सत्य का अन्वेषण किया, सार-सार को ग्रहण किया, थोथे को उड़ा दिया। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि कबीर प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद के ही समर्थक थे। युक्तिपुरस्सर तत्त्वग्राही थे।

इस समन्वयवादी प्रवृत्ति के परिप्रेक्ष्य में जब हम चिन्तन करते हैं, तो कबीर के कुछ जीवनमूल्यां/सिद्धान्तों का निर्धारण कर पाते हैं यथा-अनेकता का निवारण कर एक परम सत्य की स्थापना, अन्धविश्वास का नितान्त अभाव, रूढ़ियों की अस्वीकृति, जातिगत भेदभाव को अस्वीकार करते हुए भी कर्मवाद, पुनर्जन्म, नियतिवाद, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक आदि में आस्था, जीवन के उत्थान के लिए ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, अहिंसा आदि पर विशेष बल देना आदि। ज्ञानी भक्त कबीर की दार्शनिक चेतना का यही रहस्य है।

जैनदर्शन और कबीर की तुलना

जैनदर्शन के समान षड्रव्य, नवतत्त्व आदि जीवन और जगत् से संबंधित कोई

व्यवस्थित विचार-सरणी का प्रसाद यद्यपि कबीर नहीं दे पाए हैं, क्योंकि किसी विशिष्ट दर्शन-प्रणाली के अन्तर्गत उनका अध्ययन ही नहीं हो पाया था। दूसरे, वे कवि-हृदय थे, कवि अपनी कविता में दर्शन-शास्त्र का प्रवेश कल्पना के ताने-बाने में/परिधान में ही कराना चाहता है, सीधे-सीधे नहीं।

उदाहरण के लिए आत्मा जैसे सर्वमान्य तत्त्व की परिभाषा भी कबीर ने कहीं नहीं दी है। लेकिन आत्मानुभव अवश्य किया है और उस आत्मानुभव का कथन करना, उनके लिए गूँगे के गुड़ के स्वाद के समान है-

‘आतम अनुभव ज्ञान की, जो कोई पूछै बाता।
सो गूँगा खाइ कै, कहै कौन मुख स्वाद ॥’

जैन दर्शन की यह मान्यता है कि जब जीव अज्ञान और मोह की नींद से जागता है, तब वह सम्यग्दृष्टि बनता है, तब उसे अपने में और परमात्मा में स्वरूप-दृष्टि से कोई अन्तर नज़र नहीं आता। लेकिन कबीर जब भक्ति-दृष्टि से जीव को ब्रह्म का अंश मानते हैं^६ तब उनकी इस मान्यता का मेल **भगवद्गीता** (१५/७) के साथ तो बैठ जाता है, परन्तु जैनदर्शन के साथ नहीं बैठता। क्योंकि यहाँ ब्रह्म से जीव की उत्पत्ति नहीं मानी गई है। आत्मा की अजीव से पृथकता, उसके विभिन्न नाम आदि के विषय में कबीर और जैनदर्शन के मन्तव्य समान हैं।

अरिहन्त और सिद्ध के रूप में जैनदर्शन में क्रमशः सगुण-साकार व सगुण-निरंकार ब्रह्म की उपासना का विधान है; यहां अवतारवाद, एकेश्वरवाद या सृष्टिकर्तृत्ववाद के लिए कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकार मिलते-जुलते भाव कबीर में भी प्राप्त होते हैं। तथापि परमतत्त्व के विषय में कबीर को और उनके ब्रह्म को-दोनों को ही समझना मुश्किल प्रतीत होता है-

‘जस तू तस तोहि कोई न जाना।
लोग कहें सब आन हि आना॥’

लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कबीर सगुण अवतारवाद के समर्थक हैं अथवा ब्रह्म के स्वरूप के संबंध में उनकी कोई निश्चित धारणा नहीं है। सच तो यह है कि वे अपने इष्टदेव को किसी भी नाम से, चाहे वह सगुणवाची हो या निर्गुणवाची, पुकारने में संकोच या हिचक का अनुभव नहीं करते। अन्तर केवल इतना ही है कि जैनदर्शन में अनेक शुद्ध आत्माएँ अनेक ब्रह्म बन जाती हैं और कबीर के मत से अनेक आत्माएँ एक ही ब्रह्म के अनेक रूप हैं और यह मौलिक भेद ही जैनदर्शन और कबीर में असमानता पैदा करता है। लेकिन परमात्मस्वरूप में कोई तात्त्विक भेद दोनों ही जगह दृष्टिगोचर नहीं होता। मुक्त आत्माओं को जैनदर्शन ज्ञानस्वरूप मानता है, कबीर कहीं

तो ज्ञानस्वरूप मान लेते हैं, कहीं ज्ञान-विवर्जित भी कह देते हैं। वेदान्तदर्शन में ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी का ब्रह्म में अभाव माना गया है। हो सकता है, इसी प्रभाववश कबीर मुक्त आत्माओं को कहीं-कहीं ज्ञानविवर्जित कह देते हैं।

अनात्म में आत्मबुद्धि, अदेव में देवबुद्धि, कुगुरु में गुरुबुद्धि, अधर्म में धर्मबुद्धि, अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि, संसारमार्ग में मोक्षमार्ग बुद्धि के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि कबीर का 'माया' शब्द शंकर के अद्वैतवाद की अपेक्षा जैनदर्शन के मिथ्यात्व विषयक निरूपण के अधिक समीप है। 'माया को अंग' में कबीर ने 'माया' के विभिन्न अर्थ स्वीकृत किए हैं। यथास्वादरूपी उग्रविषयरूपी बाण मारने वाली, भांड बनाने वाली, आशा, तृष्णा, धन-दौलत, मान-सम्मान की भूख, दीनता, आसक्ति, विषयासक्ति इत्यादि जो इस तथ्य के स्पष्ट सूचक हैं कि यह दुनियाँ भ्रमरूप नहीं है, अपितु वास्तविक है। भ्रम तो आत्मा की कुमति का है (मिथ्यात्व का है), जो उसे स्वरूप-ज्ञान, स्वरूप-प्रतीति, स्वरूप-श्रद्धा, स्वरूप-साक्षात्कार, स्वरूप-अनुभूति एवं स्वरूप-रमण नहीं करने देती, अपितु पर-द्रव्य की ओर उन्मुख करती है। यह स्वरूप-च्युति ही मिथ्यात्व है, जो जैन-दर्शन सम्मत है।

कबीर के यत्र-तत्र बिखरे हुए स्फुट विचारों की उपलब्धि के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर कर्मवादी पहले हैं, ईश्वरवादी बाद में। यह कर्म दो प्रकार का है- (द्रव्य कर्म और भाव कर्म) जैन दर्शन में जिसे 'भाव कर्म' कहा गया है, कबीर उसे 'भरम' (मिथ्यात्व) कहते हैं और जैनदर्शन-सम्मत द्रव्यकर्म को 'करम' कहते हैं-

यह तन तौ सब बन भया, करम भये कुल्हाड़ि। आप आप कूं काटि हैं, कहैं कबीर विचारि॥^{१०}.....'भरम करम दोऊ गवाई।'

वैदिकों में श्राद्ध का विधान है, जिसके अनुसार एक के कर्म का फल दूसरे को मिल सकता है। बौद्ध भी प्रेतयोनि को मानते हैं अर्थात् प्रेत के निमित्त जो दान-पुण्यादि किया जाता है, प्रेत को उसका फल मिलता है। परन्तु जैन धर्म में प्रेतयोनि नहीं मानी गई है। संभव है कि कर्मफल के असंविभाग की जैन मान्यता का यह भी एक आधार हो। जैन शास्त्रीय दृष्टि तो यही कहती है कि कर्म करने वाले को ही उसका फल भोगना पड़ता है, कोई दूसरा सगा-संबंधी उसमें भागीदार नहीं बन सकता।^८

कबीर भी कहते हैं- 'आप करै आपै दुख भरिहैं'^{११}।

जैनदर्शन के अनुसार सिद्धदशा पाप-पुण्य दोनों से परे हैं। कबीर का चरमसाध्य भी वही है-

'अगम अगोचर गमि नहीं, तहां जगमगै जोति।

जहाँ कबीरा बंदिगी, तहाँ पाप पुनि नहीं होति॥^{१०}

स्वर्ग और नरक की कल्पना चावकेतर समस्त भारतीय दर्शनों को मान्य है। अन्तर सिर्फ इतना है कि वैदिक परम्परा में स्वर्ग काम्य हो सकता है, लेकिन श्रमण-परम्परा में स्वर्गप्राप्ति को भी भव-भ्रमण कहा गया है। इस दृष्टि से कबीर श्रमण-परम्परा के अधिक नजदीक दिखाई देते हैं। क्योंकि वे स्वर्ग और नरक को सुख-दुःख का भोग स्थान मानते हैं।^{११}

जैन दर्शन में 'सम्यक् दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान, चारित्र के समन्वय को 'मोक्षमार्ग, कहा गया है। कबीर की भी हतन्त्री इसे स्वीकार करती प्रतीत होती है-

'दीपक पावक आंणिया, तेल भी आंणया संग।

तीन्युं मिलि करिजोइया, उड़ि-उड़ि पड़ै पतंग॥^{१२}

यहाँ दीपक ज्ञान का प्रतीक है, तेल श्रद्धा (दर्शन) का और पावक तप संयम रूपी चारित्र का प्रतीक है। तीनों का समन्वय जब होता है, तब कर्म रूपी पतंगे इस साधनाग्नि में गिर-गिर कर समाप्त हो जाते हैं।

जैन दर्शन में व्यक्तिगत धर्म-धारणा की दृष्टि से चारित्र के दो रूप प्राप्त होते हैं- अगार चारित्र धर्म अर्थात् गृहस्थाचार और अनागार चारित्र धर्म अर्थात् साध्वाचार। इन दोनों की आचार प्रणाली का व्यवस्थित एवं सूक्ष्म निरूपण भी वहाँ किया गया है।

कबीर ने इस प्रकार की कोई आचार संहिता नहीं बताई, क्योंकि वैसा करना न तो उनका उद्देश्य था, न ही उनसे वैसा संभव ही था। लेकिन शोध करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावकाचार और साध्वाचार के अधिकांश घटकों से कबीर के विचार मेल खाते हैं। यदि श्रावक के १२ व्रतों एवं प्रतिमाओं तथा साधु के ५ महाव्रतों के नाम विधान को महत्त्व न दिया जाए, तो कबीर का विरोध किसी भी आचार से नहीं है। रही कर्मकांडीय पाखंड की बात, तो वहाँ भी जैन दर्शन और कबीर दोनों एकमत हैं। दोनों एक स्वर से उसका विरोध करते हैं।

बहुत से विद्वानों की यह धारणा है कि जैन धर्म में भक्ति का कोई स्थान नहीं है, किन्तु हम यहाँ इस सम्बन्ध में तीन तथ्य स्पष्ट करना चाहते हैं- पहला यह है कि जैन धर्म में 'भक्ति' शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र बहुलता से मिलता है। यहाँ भक्ति भी शुद्ध एवं सात्विक तथा निष्काम की जाती है, जो परमात्मा का सात्त्विक पाने के लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय है तो बुराइयों से बचने के लिए रक्षा कवच भी है तथा अपने इष्टदेवादि के गुण अपने भीतर प्रकट करने का साधन भी है।

दूसरा यह कि पतञ्जलि^{१३}, गीताकार^{१४}, शाण्डिल्य^{१५} और नारद^{१६} ने भक्ति

के प्रतिपादन में केवल परमात्मभक्ति की ही बात रखी है, गुरुभक्ति की नहीं, तो फिर कबीर ने इनसे गुरुभक्ति नहीं सीखी यह तथ्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट है।

तीसरा यह कि जैन धर्म में परमात्मभक्ति के साथ गुरुभक्ति और श्रुतभक्ति भी आवश्यक मानी गयी है और तीनों के आधार पर जीवन के सम्पूर्ण विकास को मान्यता प्रदान की गयी है।^{१७}

जैनधर्म में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध करने वाले २० गुण माने गये हैं-

अरिहंत-सिद्ध-पवयण-गुरू-थेर-बहुस्सुए-तवस्सीसु।

वच्छलयायतेसिं, अमिक्ख णाणोवओगे या।

दंसण-विणए आवस्सए य, सील बए निरइयारं।

रवण-लव-तवच्चियाए, वेयावच्चे समाहीया।

अपुव्व्यनाण गहणे, सुयभक्ति पवयणे प भावणया।

एएहिं कारणेहिं तिथ्ययरतं लहइ जीवो॥-ज्ञाता०, अ ८,

उक्त २० गुणों में से अरिहंत-सिद्ध-प्रवचन-गुरु आदि के प्रति भक्ति अर्थ में 'वत्सलता' (वात्सल्य) शब्द का प्रयोग जैन दर्शन का अपना अनूठा प्रयोग है। यहाँ 'वात्सल्य' का अर्थ है- निस्वार्थ स्नेह या शुद्ध प्रेम अथवा अलौकिक अनुराग।

श्री सोमदेवसूरि के अनुसार 'वात्सल्य' का लक्षण है-

'आर्थित्वं भक्ति संपत्तिः प्रियोक्तिः सत्क्रियाविधिः।

सधर्मसु च सौचित्य कृतिर्वत्सलता मता॥^{१८}

अर्थात् धर्मात्मा पुरुषों के प्रति उदार रहना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर-सत्कार तथा अन्य उचित क्रियाएँ करना 'वात्सल्य' है। तात्पर्य यह है कि 'वात्सल्य' में समर्पण एवं प्रपत्ति का भाव अन्तर्निहित है।

जैनदर्शन में मोक्षमार्ग है- सम्यक-दर्शन-ज्ञान-चरित्र की परिपूर्णता एवं एकरूपता। जैन भक्त सुदेव अर्थात् वीतराग जिन परमात्मा की भक्ति करके अपने सम्यग्दर्शन गुण को पूर्ण विकसित करना चाहता है। सत्श्रुत की भक्ति करके अपने सम्यग्ज्ञान गुण को एवं सुगुरु की भक्ति करके अपने सम्यक्-चारित्र गुण को परिपूर्णता प्रदान करना चाहता है। तात्पर्य यह हुआ कि जैनधर्म में भक्ति-रस-सूत्र से अनुस्यूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र को ही मोक्षमार्ग माना गया है।

कबीर की भक्ति पर नारदीय, द्राविडीय, वैष्णवीय और पंचरात्रीय आदि अनेकों प्रभाव अनेकों विद्वानों द्वारा मान्य किए गए हैं। हम यह नहीं कहना चाहते कि कबीर

पर उक्त प्रभाव नहीं पड़े या नहीं पड़े होंगे। हम तो यह बताना चाहते हैं कि कबीर की भक्ति पर जैनभक्ति का भी प्रभाव पड़ा है।

उदाहरणार्थ—

‘मेरा मन सुमिरे राम कूं, मेरा मन रामहिं आहिं।
अब मन रामहिं है रह्यै, सीस नवावौं काहि॥’

कबीर की उक्त साखी का सीधा संबंध पंचरात्रों आदि से जुड़ता है या नहीं, इसका विवेचन करना हमारा अभिप्रेत नहीं है। लेकिन मुनि योगीन्दु (छठी शती) और मुनि रामसिंह (११वीं शती) के निम्न दोहे से इसका सीधा सम्बन्ध अवश्य प्रतीत होता है-

‘मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरू वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हूवाहँ पुज्ज चडावउँ कस्स॥^{१९}
मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरू जि मणस्स।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउँ कस्स’॥^{२०}

आत्मा-परमात्मा की समरसता की स्थिति का दिग्दर्शन जिन शब्दों में मुनि योगीन्दु और मुनि रामसिंह ने कराया है, कबीर ने भी उन्हीं भावों को उन्हीं शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

जब कबीर कहते हैं-

पूजा न करूँ, न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।’

तब स्पष्ट ही वे शुद्ध परमतत्त्व की भक्ति करते प्रतीत होते हैं। कबीर की सुगुरु भक्ति तो प्रसिद्ध है ही।

वे कहते हैं-

‘अनेक जनम का गुर-गुर करता, सतगुर तब भेदांना।

सद् गुरु से, योग्य गुरु से दीक्षा लिए बिना ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। क्या दीपशिखा की अनुपस्थिति में कहीं अंधकार मिट सकता है।

यह भक्ति, ज्ञान एवं चारित्र से भी श्रेष्ठ है। इसका लक्ष्य लौकिक भोग-विलास अथवा स्वर्ग प्राप्ति नहीं है। यहाँ किसी आडम्बर और कामना को भी स्थान नहीं है। इस विषय में कबीर और जैन दर्शन दोनों एकमत हैं। सभी रहस्यवादी जैन कवियों का यह विश्वास रहा है कि परमात्मा का निवास देह रूपी देवालय में है। ये आत्मज्ञानी साधक

ईंटों एवं पत्थरों से बने हुए जड़ भवनों में परमात्मा की खोज नहीं करते। इनकी दृष्टि में देह-देवालय में स्थित परमात्मा और मुक्ति में निवास करने वाले निर्मल ज्ञानादि-सम्पन्न परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।

वे कहते हैं—

‘जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ।।’^{२१}

तथा

‘देहा देवलि सिउ वसइ तुहुँ देवलइँ णिएहि।
हासउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धें भिक्ख ममेहि।।’^{२२}

सन्त कबीर भी शरीर को देवालय मानते हैं।

वे कहते हैं कि—

‘कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तूं ताही सौं ल्यो लाइ।’

ईसा की पाँचवीं शताब्दी से जैन धर्म में मूर्तिपूजा की परम्परा का स्पष्ट विकास होता हुआ हमें दिखाई देता है। ईसा की १४वीं शताब्दी तक तो मूर्ति-पूजन की परम्परा इतनी आगे बढ़ गई थी कि आचार्य सकलकीर्ति ने अपने प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार में प्रत्येक श्रावक को अपने घर में जिनबिम्ब को स्थापित करने का उपदेश देते हुए यहाँ तक लिख दिया कि-

‘यस्य गेहे जिनेन्द्रस्य बिम्बं न स्याच्छुभप्रदम्।
पक्षिगटहसमं तस्य गेहं स्यादतिपापदम् ॥’

अर्थात् जिसके घर में शुभफलदायक जिनेन्द्र का बिम्ब (मूर्ति) नहीं है, उसका घर पक्षियों के घोंसले के समान है और पापदायक है।

तो दूसरी ओर मूर्तिपूजा की व्यर्थता को सिद्ध करने वाली परम्पराओं का तुमुलनाद भी हमें सुनाई देता है। समय-समय पर मूर्तिपूजा के विरोध में जैन आचार्यों ने आवाज उठाई है। स्थानकवासी परम्परा की तो शुरुआत ही इसी नींव पर हुई है। इसी प्रकार तेरापंथी और दिगम्बर तारणपंथी सम्प्रदायों ने मूर्तिपूजा का खुलकर विरोध किया है। दिगम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में भी अभ्रदेव जैसे जिनपूजा, श्रुतपूजा और मुनिपूजा को मानने वाले आचार्य भी अन्तरंग शुद्धि को विशेष महत्त्व देते हुए दिखाई

देते हैं-

पठतु शास्त्र समूहमने कथा,
जिन समर्थन मर्चनतां सदा।
गुरुनतिं कुरुतां धरतां व्रतं।
यदिशमो न वृथा सकलं ततः॥

-व्रतोद्योतन श्रावकाचार

अर्थात् यदि समभाव नहीं है, तो अनेक प्रकार के शास्त्रों को पढ़ना, जिनेन्द्र देव की सदा पूजा करना, गुरुजनों को नमस्कार करना और व्रत धारण करना ये सब व्यर्थ हैं।

जिन दिनों लोकाशाह (जन्म सं० १४७२) मूर्तिपूजा का जबरदस्त विरोध कर स्थानकवासी जैनसम्प्रदाय की नींव डाल रहे थे, जड़-पूजा के स्थान पर चैतन्यपूजा और द्रव्यपूजा के स्थान पर भावपूजा की प्रतिष्ठा कर रहे थे, उन्हीं दिनों कबीर भला इस महा-आन्दोलन की लहर से अछूते कैसे रह सकते थे। उन्होंने भी मूर्तिपूजा का दृढ़ता से विरोध किया और कहा कि-

विशुद्ध भावों सहित, निष्काम, निर्गुण, निराकार की भावपूजा, सेवा-उपासना से ही आत्मा-परमात्मा की ऐक्यानुभूति हो सकती है।

जब कुछ जैनाचार्यों द्वारा द्रव्यपूजा को इतना बढ़ावा दिया गया कि धनिये के पत्ते के बराबर जिन-भवन बनवाकर उसमें सरसों के बराबर जिन-प्रतिमा स्थापन का महान फल बताया गया,^{२२} तो कबीर ने इस कथन को अपने सांचे में ढालते हुए कहा-

‘देवल माहैं देहुरि, तिल जै है बिसतार।
माहैं पक्षी माहिं जल, माहैं पूजणहार।’^{२४}

जैनियों को स्पष्ट रूप से सम्बोधित करते हुए कबीर ने कहा—

“जैन जीव की सुधी न जानै। पाती तोरि देहुरै आनै।
दोना मरवा चंपक फूला। तामै जीव बसै कर तूला।
अरु प्रथमी की रोम उपारै, देखत जीव कोटि संघारै।”^{२५}

अर्थात्- जैन लोग अहिंसा के लिए विख्यात हैं, तथापि आचरण में हिंसक हैं। अपने आपको अहिंसक मानते हुए भी इन जैनों को जीव तत्त्व का ज्ञान नहीं है। इनको जीव हिंसा के समय होश ही नहीं रहता है। ये लोग फूल-पत्तियों को तोड़कर देवालय में लाते हैं। देवालयादि के निर्माण के अवसर पर घास-फूस एवं पौधों आदि

के रूप में ये पृथ्वी के रोमों को उखाड़ते हैं। इस प्रकार देखते-देखते करोड़ों जीवों का संहार कर देते हैं। ये वास्तविक ज्ञान से प्राप्य अमर पद से विमुख हैं।

कबीर का उक्त कथन मूर्तिपूजक जैनियों की दृष्टि से ठीक है। लेकिन जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं- जैनियों में मूर्तिपूजा विरोधी सम्प्रदाय भी हैं। मूर्तिपूजा के विरोध में उनके और कबीर के विचार समान ही हैं। अतः कबीर का उक्त कथन सम्पूर्ण जैन-उपासकों पर लागू नहीं होता।

पूरे कबीर-वाङ्मय में मूर्तिपूजा-सम्बन्धी उक्त उल्लेख ही कबीर की ओर से जैनियों पर किया गया सीधा प्रहार है। जिससे यह तथ्य स्पष्ट उद्भासित हो जाता है कि कबीर जैन दर्शन की सूक्ष्म अहिंसा से भलीभाँति अभिज्ञ थे और यह अहिंसा उन्हें स्वयं को स्वीकृत भी थी।

भला कबीर जैसा सत्यान्वेषी साधक अपने युग के एक प्रमुख दर्शन से अन्जान एवं अप्रभावित रह भी कैसे सकता था?

निष्कर्ष यह है कि जैन धर्म का मूल उन प्राचीन परम्पराओं में रहा है, जो आर्यों के आगमन से पूर्व इस देश में प्रचलित थी। किन्तु, यदि आर्यों के आगमन के बाद से भी देखें तो ऋषभदेव और अरिष्टनेमि को लेकर जैन धर्म की परम्परा वेदों तक पहुँचती है। इस धर्म के अन्तिम तीर्थंकर महावीर (ई०पू० छठी शताब्दी) हुए, जिन्होंने इसे पूर्ण रूप से सुसंगठित और सक्रिय बनाया। उन्हीं के समय से इस सम्प्रदाय का नाम 'जिन' धर्म को मानने के कारण 'जैन' हो गया।

ईसा की आरंभिक सदियों में उत्तर में मथुरा और दक्षिण में मैसूर (श्रवणबेलगोला) जैनधर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। पाँचवीं से १२वीं शताब्दी तक दक्षिण के गंग, कदम्ब, चालुक्य और राष्ट्रकूट राजवंशों ने जैनधर्म की बहुत सेवा की। १२-१५वीं शती तक गुजरात, राजस्थान और मध्य भारत में जैनधर्म का काफी उत्कर्ष हुआ। लोकाशाह के नेतृत्व में मूर्तिपूजा के विरोध में शुरू हुए जैन-आन्दोलन और कबीर की समाज-सुधार-क्रान्ति का समय एक ही है।

एक विराट जन आंदोलन जहाँ हो रहा हो और जो अपने युग के प्रमुख दर्शनों में से एक हो, कबीर जैसे सारग्राही संत की तत्सम्बन्धी अभिज्ञता सहज और अनिवार्य है। अभिज्ञता का परिणाम यह हुआ कि कबीर काफी अंशों में जैनधर्म-दर्शन से प्रभावित हुए। अतः आत्मा विषयक एक-दो मन्तव्यों में मत-वैभिन्य होते हुए भी बहुत अंशों में जैनधर्म-दर्शन और कबीर के चिन्तन में साम्य है।

इस देश की भाषागत उन्नति में जैनमुनि सहायक रहे हैं। प्रत्येक काल एवं

प्रत्येक क्षेत्र में जब जो भाषा प्रचलित थी, जैनों ने उसी के माध्यम से अपना प्रचार किया है। इसी प्रकार कबीर ने भी अपने उपदेशों का माध्यम लोकभाषा को बनाया है। जैन साधुओं की घुमक्कड़ी वृत्ति का भी उन पर प्रभाव पड़ा है, इसीलिए वे दूर-दूर तक पैदल भ्रमण कर सके और उनकी भाषा 'सधुक्कड़ी भाषा' की संज्ञा प्राप्त कर सकी।

जैन दर्शन और कबीर के शब्द-साम्य और भाव-साम्य के कुछ उदाहरण—

- (१) - वंदहु वंदहु जिणु भणइ, को वंदउ हलि इत्थु।
 णियदेहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमथ्यु॥
 मुनि रामसिंह, **पाहुड दोहा**, ४१ :
 अर्थात् जिन कहते हैं- वंदना करो, वंदना करो।
 किन्तु यदि निजदेह में अवस्थित आत्मतत्त्व ही
 परमार्थतः परमात्मा है, यह मैंने जान लिया है,
 तो मैं किसे वंदना करूँ?
 मेरा मन सुमिरै राम कूँ, मेरा मन रामहिं आहि।
 अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि।
कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), सा० ८, पृ०- १४.
- (२) जं कल्लं कायव्वं, नरेण्ण अज्जेव तं वरं काउं।
 मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवयंतो वि॥
 -**बृहत्कल्पभाष्य**, ४६७४.
 काल करे सो आज कर, आज करे सो अब।
 पल में परलै होयगी बहुरि करेगा कब॥
कबीर-ग्रन्थावली, सा० ४०२, पृ०- ४१.
- (३) आउ गलइ णावि मणु गलइ णवि आसा हु गलेइ।
 मोहु फुरइ णवि अप्प-हिउ इय संसार भमेइ॥
योगसार, दोहा ४९, पृ-३७०.
 माया मुई न मन मुवा, मरि मरि गया सरीरा।
 आसा त्रिष्णाँ नाँ मुई, यौं कहि गया कबीर॥
कबीर-ग्रन्थावली, (मिश्र), सा० ११, पृ०-९२.
- (४) जइ जर-मरण करालियउ तो जिय धम्म करेहि।
 धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि॥
 -**योगसार**, ४६, पृ०-३६९.

१. कबीर हरि रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि॥
कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), सा० ७, पृ०- ५७
२. राम रसांइण प्रेम रस, पीवल अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुर्लभ है, मांगै सीस कलाल।
वही, सा० २, पृ०- ५७
- (५) जे एगं जागइ, से सव्वं जाणइ।
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।
-**आचारारंग**, १/३/४,
जे ओ एकै जाणियाँ, तौ जाणया सब जांण।
जे ओ एक न जाणियाँ, तो सब ही जांण अजांण॥
-**कबीर-ग्रन्थावली** (मिश्र), सा ८, पृ०- ६०.
- (६) सबका सहेउं आसाइ कंटया
अओमया अच्छहया नरेणं
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए।
वईमए कण्णसरे स पुज्जो॥
दशवैकालिक ९/३/८
अणी सुहेली सेल की, पड़लां लेइ उसासा।
चोट सहारै सबद की, तास गुरु मै दासा॥
कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), सा ७, पृ०- १५९.
- (७) जे सिया सन्निहिकाथे, गिही पव्वइए न से॥
दशवैकालिक ६/१९.
संत न बाधै गांठड़ी, पेट समातां लेइ।
साईं सूं सनमुख रहै, जहां मांगै तहां देइ॥
कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), सा १०, पृ०- १५०.
- (८) महुगारसमा बुद्धा, जे भवति अणिस्सिया।
नाणा पिंडरया दंता, तेण वच्चंति साहुणो॥
दशवैकालिक १/५.
मीठा खांण मधुकरी, भांति भांति कौ नाज।

दावा किस ही का नहीं, बिन बिलाइति बड़ राज॥

कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), सा० १३, पृ०- १५०.

- (९) दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई, मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइं॥
-दशवैकालिक ५/९.

बैरागी बिरकत भला, गिरहीं चित्त उदारा।

दूहं चुका रीता पड़ै ताकूं वार न पारा॥

कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), सा ६, पृ०- १४६.

- (१०) सोही अज्जूयभूयस्स धम्मो सुध्दस्स चिद्धइ।
उत्तराध्ययन ३/९२.

‘हरि न मिले बिन हिरदे सूधा’

कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), पद ३७९, पृ०- ५०५

- (११) जिम लाणु विलिज्जइ पाणियहँ तिम जइ चित्त विलिज्ज।
समरसि हूवइ जीवडा काइँ समाहि करिज्ज॥
पाहुड दोहा, १७६, पृ० ५४.

मन लागा उन्मन सौं, उनमन मनहिं बिलग्गा।

लूण बिलग्गा पाणियां, पांणि लूण बिलग्गा॥

कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), साखी १६, पृ०- ४०.

संदर्भ-

१. वेदोल्लिखित होने पर भी ऋषभदेव वेदपूर्व परम्परा के प्रतिनिधि हैं। रामधारी सिंह दिनकर, **संस्कृति के चार अध्याय**, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९५६, पृ०- १४७.
२. **श्रमण**, नवम्बर १९४९. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
३. **भारतीय दर्शन**, डॉ० राधाकृष्णन्, भाग-१, पृ०-२३८.
४. दिनकर, **संस्कृति के चार अध्याय**, पृ०-१४७-४७.
५. **कबीर-ग्रन्थावली**, भगवतस्वरूप मिश्र, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६९, साखी- ६२.
६. कहु कबीर इहु राम कै अंसु।
जस कागद पर मिटै न मंसु॥
-संत **कबीर**, राग गौड, पद ५, पृ०-१६८.

७. **कबीर-ग्रन्थावली**, मिश्र, साखी ४४, पृ०-७३.
८. माया पिया णहुसा भाया, भज्जा पुता व ओरसा।
नालं ते मम ताणाए, लुप्पंतस्स सकम्मुणा।।
-उत्तराध्ययन, संपा० आचार्या चन्दना जी, वीरायतन प्रकाशन,
आगरा, १९७२ ई०, ६/१३.
९. **कबीर-ग्रन्थावली** (मिश्र), पद १४३, पृ०-३१४.
१०. स्नग-नूक थैं (सरग-नरक थैं) हूँ रह्या, सतगुर के प्रसादि।
चरन कँवल की मौज मैं, रहिस्युं अंति स आदि।।
कबीर-ग्रन्थावली-सा० ४, पृ०-३७ (मिश्र)-सा ६, पृ०-१४०.
११. **कबीर ग्रन्थावली**, साखी- ४, पृ०-३७.
१२. **कबीर ग्रन्थावली**, साखी-७, पृ०-३२.
१३. ईश्वर प्राणिधानाद्वा
१४. मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः। गीता- १२/१४
१५. सा त्वस्मिन्द परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च
१६. अर्हदाचार्य बहुश्रुत प्रवचनेषु भावविशुद्धि युक्तोऽनुरागो भक्तिः।
-सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद
१७. **यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य**, (उत्तरखंड) सोमदेवसूरि,
व्याख्याकार-पं० सुन्दरलाल, ६/६९.
१८. -मुनि योगीन्दु, **परमात्मप्रकाश**, १२५.
१९. -मुनि रामसिंह, **पाहुडदोहा**, ४९, पृ०-१६.
२०. -**परमात्मप्रकाश**, -२६, पृ०-२३.
२१. -**पाहुडदोहा**, पृ०-५६.
२२. हम भी पाहन पूजते, होते बन के रोझ।
सतगुरु की किरपा भई, डारया सिर थैं बोझ।”
कबीर-ग्रन्थावली (मिश्र), सा० ४, पृ०-११७.
२३. **वसुनन्दी-श्रावकाचार**, ४८१.
२४. **कबीर-ग्रन्थावली** (मिश्र), सा ४२, पृ०-४८.
२५. **कबीर-ग्रन्थावली** (मिश्र), रमैणी, १-७, पृ०- ५५८.





जैन एवं बौद्ध ध्यान पद्धति: एक अनुशीलन

डॉ० सुधा जैन*

भारतीय योग-परम्परा में ध्यान का अपना एक विशिष्ट स्थान है। भारतीय परम्परा का ऐसा कोई भी सम्प्रदाय या दर्शन (चार्वाक को छोड़कर) नहीं है जो योग या ध्यान-प्रक्रिया को स्वीकार न किया हो। जहाँ तक ध्यान के प्रारम्भ की बात है तो ध्यान की परम्परा प्राचीनकाल से ही अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। इसका आदि स्रोत खोजना अत्यन्त ही कठिन है। किन्तु इतना तो सत्य है कि यह प्राक्-ऐतिहासिक है। उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर योग के आदि-बिन्दु की कल्पना की जा सकती है। **हठयोग प्रदीपिका** में आदिनाथ को योग का प्रवर्तक बतलाया गया है-

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै, यनोपदिष्टा हठयोग विद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगभारोद्गुमिच्छोरधरोहिणीव ॥^१

‘आदिनाथ’ नाम जैन और शैव—दोनों परम्पराओं में प्रसिद्ध है। जैन परम्परा में आदिनाथ भगवान् ऋषभ का नाम है और शैव परम्परा में शिव का नाम है। आधुनिक विद्वानों का मानना है कि ऋषभ और शिव—दोनों एक ही व्यक्ति हैं। दो भिन्न-परम्पराओं में दो नामों से प्रतिष्ठित हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने भी **ज्ञानार्णव** के प्रारम्भ में भगवान् ऋषभ की एक योगी के रूप में वंदना की है।^२ **महाभारत** के अनुसार हिरण्यगर्भ से पुराना कोई योगवेत्ता नहीं है।^३ सांख्य-योग परम्परा में हिरण्यगर्भ को सगुण ईश्वर के रूप में माना है।^४ **श्रीमद्भागवत** में भी भगवान् ऋषभ को योगेश्वर कहा गया है।^५ ऋषभ ने नानायोग चर्याओं का चरण किया था।^६ संभवतः यही कारण है कि उनके ऋषभ, आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा-ये नाम प्रचलित थे।

ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत-जगत् का एकमात्र स्वामी है-

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।

स दाधारपृथिवीं धामुतेमां कस्मै दैवाय हविषा विधेम ॥^७

फिर भी यह स्पष्ट नहीं होता कि वह परमात्मा है या देहधारी? क्योंकि

शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है।^८ कुछ विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है, तो कुछ उन्हें संसारी कहते हैं।^९ भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।^{१०} ऋषभ जब गर्भ में थे, तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। जिसका उल्लेख महापुराण में मिलता है।^{११}

सैषा हिरण्यमयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता ।

विभो! हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत् ॥

ऐतिहासिक काल में ध्यान-परम्परा के स्रोत सांख्य, शैव, तन्त्र, नाथ-सम्प्रदाय, जैन और बौद्ध दर्शन में उपलब्ध हैं। सांख्य दर्शन की साधना-पद्धति का अविकल रूप महर्षि पतञ्जलि के योग दर्शन (ई०पू० दूसरी शताब्दी की रचना) में मिलता है। जैन दर्शन का साधना-मार्ग आचाराङ्ग (ई०पू० पाँचवीं शताब्दी की रचना) में प्राप्त होता है। बौद्ध दर्शन का साधना-मार्ग अभिधम्मकोश और विशुद्धिमग्ग (ई०सन् पाँचवीं शताब्दी) में उपलब्ध है।

पातञ्जल योग दर्शन सांख्य सम्मत ध्यान-पद्धति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। जैन साधना-पद्धति और विशेषकर ध्यान-पद्धति का मौलिक ग्रन्थ आचाराङ्ग है। उसी प्रकार अभिधम्मकोश और विशुद्धिमग्ग बौद्ध सम्मत ध्यानपद्धति के आधारभूत ग्रन्थ हैं। भगवान् पार्श्व ध्यान-पद्धति के उन्नायक थे, उनकी ध्यान-पद्धति जैन-शासन और बौद्ध शासन, दोनों में ही संक्रमित हुई है।^{१२} आचाराङ्ग और विशुद्धिमग्ग—दोनों में ही विपश्यना ध्यान के बारे में वर्णन मिलता है। वर्तमान में ध्यान की बहुत सारी पद्धतियाँ प्रचलित हैं, परन्तु प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य जैन ध्यान-पद्धति एवं बौद्ध ध्यान-पद्धति के अन्तर्गत प्रेक्षाध्यान और विपश्यना ध्यान-प्रक्रिया का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रेक्षाध्यान:— वि०सं० २०१७ में युवाचार्य महाप्रज्ञ (वर्तमान आचार्य) के मन में प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या जैन साधकों की भी कोई ध्यान-पद्धति है? इसी प्रश्न के समाधान हेतु तेरापंथ के नवम आचार्य तुलसी ने उन्हें प्रेरित कर आगमों से इसे खोज निकालने के लिए मार्ग दर्शन दिया। २०१८ में आचार्य तुलसी ने 'मनोऽनुशासनम्' पुस्तक को लिखा, जिसमें जैन साधना-पद्धति के कुछ रहस्य सामने आये। इसी क्रम में क्रमशः 'चेतना का उध्वारोहण', 'महावीर की साधना का रहस्य', 'तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो' आदि पुस्तकें जैन योग-साधना के सम्बन्ध में प्रकाश में आयीं।^{१३} कई शताब्दियों से ध्यान की जो परम्परा विच्छिन्न हो गयी थी उसके लिए

ये प्रयास पूर्ण नहीं थे। वि०सं० २०२९ में लाडनू में एक महीने का व चूरू, राजगढ़, हिसार और दिल्ली में दस-दस दिन के साधना शिविर लगाये गये। जिसके कारण अनेक साधु-साध्वी तथा गृहस्थ लोग भी ध्यान-साधना में रुचि लेने लगे। वि०सं० २०३१ में 'अध्यात्म साधना केन्द्र' दिल्ली में सत्यनारायण जी गोयनका ने 'विपश्यना ध्यान शिविर' का आयोजन किया। उस शिविर में अनेक साधु-साधवियों के साथ ही युवाचार्य महाप्रज्ञ ने भी भाग लिया और आनापानसती व विपश्यना के प्रयोग किये। इन प्रयोगों से उन्हें जैन ध्यान-साधना पद्धति की समस्या का समाधान मिल गया। महाप्रज्ञ जी ने गोयनका जी से इस विषय पर विस्तार से चर्चा की। चर्चा करने के बाद उन्होंने जैनों का **आचाराङ्ग**, बौद्धों का **विशुद्धिमग्ग** और पतञ्जलि का **योगदर्शन**— इन तीनों को लेकर ध्यान-सूत्रों की अभ्यास पद्धति की खोज प्रारम्भ कर दी।^{१४}

इस प्रकार लम्बे समय तक अन्वेषण करते-करते युवाचार्य महाप्रज्ञ को सफलता प्राप्त हुई। वि०सं० २०३२ में जैन परम्परागत ध्यान का अभ्यास क्रम निश्चित करने का संकल्प हुआ और ध्यान की इस अभ्यास-विधि का नाम 'प्रेक्षाध्यान' रखा गया। प्रेक्षाध्यान पद्धति को जनसमूह के सामने लाने का पूरा श्रेय आचार्य तुलसी व युवाचार्य महाप्रज्ञ को जाता है।

विपश्यना— यह भारत की एक अत्यन्त पुरातन ध्यान-विधि है। २५०० वर्ष पूर्व भगवान् गौतम बुद्ध ने पुनः इसे खोज निकाला था और अपने शासन के ४५ वर्षों में स्वयं इसका अभ्यास किया और लोगों से भी करवाया। भगवान् बुद्ध ने इसे अपने शिष्य महाकश्यप के मन में संप्रेषित कर दिया और महाकश्यप ने आनन्द के मन में । इस प्रकार गुरु-शिष्य परम्परा के क्रम से यह ध्यान-विधि निरन्तर चलती रही। **ध्यान-सम्प्रदाय** के इतिहास ग्रन्थों में महाकश्यप और आनन्द तथा क्रमशः बोधिधर्म तक अट्टाईस धर्माचार्यों के नाम मिलते हैं जो इस प्रकार हैं—^{१५}

- | | |
|-------------------------|--------------------|
| १. महाकश्यप | २. आनन्द |
| ३. शाणवास | ४. उपगुप्त |
| ५. धृतक | ६. मिच्छक |
| ७. वसुमित्र | ८. बुद्धनन्दी |
| ९. बुद्धमित्र | १०. भिक्षु पार्श्व |
| ११. पुण्ययशस् | १२. अश्वघोष |
| १३. भिक्षुकपिमाल | १४. नागार्जुन |
| १५. काणदेव | १६. आर्य राहुलक |
| १७. संघनन्दी | १८. संघयशस् |
| १९. कुमारिल | २०. जयंत |
| २१. वसुबन्धु | २२. मनुर |
| २३. हक्लेनयशस् (हक्लेन) | २४. भिक्षु सिंह |

२५. वाशसित
२७. पुण्यमित्र

२६. प्रज्ञातर
२८. बोधिधर्म।

इस प्रकार बोधिधर्म अट्टाईसवें धर्मनायक हैं और यही बोधिधर्म चीन में 'ध्यान-सम्प्रदाय' के प्रथम धर्मनायक हुए हैं।^{१६} समय के साथ-साथ यह ध्यान-विधि भारत के पड़ोसी देशों- बर्मा, श्रीलंका, थाईलैण्ड आदि में फैल गई। बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग ५०० वर्ष बाद विपश्यना भारत से लुप्त हो गई। दूसरी जगह भी इसकी शुद्धता नष्ट हो गई। केवल बर्मा में इस विधि के प्रति समर्पित आचार्यों की एक कड़ी के कारण यह अपने शुद्ध रूप में कायम रह पाई। इसी परम्परा के प्रख्यात आचार्य सियाजी ऊबाखिन भी विपश्यना ध्यान का प्रचार करते थे, स्वयं साधना का जीवन जीते और लोगों को सिखाते। ब्रह्मदेश (बर्मा) के ही श्री सत्यनारायण गोयनका, जो कि विपश्यना की ओर स्वतः ही आकर्षित हुए थे, विपश्यना के प्रति उनके आकर्षण को देखकर ही सियाजी ऊबा खिन ने उन्हें लोगों को विपश्यना सिखलाने के लिए १९६९ में आचार्य पद सौंपा।^{१७} गोयनका जी ने भारत में ही नहीं, अपितु ८० से भी अधिक देशों में लोगों को फिर से विपश्यना सिखायी और अपने आचार्य सियाजी ऊबाखिन का स्वप्न साकार किया। इस प्रकार विपश्यना ध्यान-पद्धति को भी पुनः विकसित करने का श्रेय श्री सत्यनारायण गोयनका जी को ही जाता है।

अर्थ एवं परिभाषा

'प्रेक्षा' शब्द 'ईक्ष्' धातु से बना है। इसका अर्थ है-देखना। प्र+ईक्षा=प्रेक्षा यानी गहराई में उतरकर देखना।^{१८} विपश्यना भी 'पश्य्' धातु से बना है। जिसका अर्थ है-देखना। वि+पश्यना=विपश्यना। इसका अर्थ भी प्रेक्षा के समान ही गहराई में उतरकर देखना है।^{१९}

प्रेक्षा और विपश्यना दोनों ही ध्यान-पद्धतियों के प्रयोग वर्तमान में चल रहे हैं। प्रेक्षा व विपश्यना—दोनों शब्दों का अर्थ भी एक ही है, परन्तु इनकी पद्धति और दर्शन में अंतर है। प्रेक्षाध्यान का उद्देश्य है- आत्मा का साक्षात्कार, आत्म-दर्शन और विपश्यना का उद्देश्य है- दुःख को मिटाने का दर्शन, क्योंकि बौद्ध दर्शन में आत्मवाद की स्पष्ट अवधारणा नहीं है।

दार्शनिक आधार- प्रेक्षाध्यान और विपश्यना दोनों में ही क्रमशः श्वास प्रेक्षा, शरीर प्रेक्षा और आनापानसति व काय-विपश्यना के प्रयोग चलते हैं। लेकिन प्रेक्षाध्यान में इनके अलावा भी कई प्रयोग चलते हैं जिनका वर्णन आगे किया जा रहा है। कुछ प्रयोग समान होने पर भी उनमें मूलभूत अंतर दर्शन का है, क्योंकि एक आत्मवादी है तो दूसरा अनात्मवादी है; एक अनेकान्तवादी है तो दूसरा क्षणभंगवादी है।

प्रेक्षाध्यान- नित्यानित्य का ज्ञान होने पर ही प्रेक्षा होती है। उत्पाद और व्यय को ध्रौव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता है। जो सत् है वह त्रयात्मक है।^{२०} नित्य और अनित्य का ज्ञान ही प्रेक्षाध्यान का आधार है। जैन दर्शन में दुःख के साथ सुख को भी स्वीकार किया गया है। भगवान् महावीर ने जन्म, मरण, बुढ़ापा और रोग इन चारों दुःखों को स्वीकार करने के साथ ही साथ सुख को भी स्वीकार किया है। पौद्गलिक सुख भी सुख है। साधनाकाल में भी सुख की अनुभूति होती है। जैन दर्शन आत्मवादी है आत्मा को स्वीकार करता है। प्रेक्षा का तो मूल आधार है- आत्मा का ज्ञान,^{२१} क्योंकि बिना आत्मा का ज्ञान प्राप्त किये प्रेक्षा नहीं हो सकती।

विपश्यना- बौद्ध दर्शन के अनुसार जब अनित्य, दुःख और अनात्म की चेतना प्रकट होती है तब विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है। विपश्यना के लिए इन तीनों का होना आवश्यक है- अनित्य का ज्ञान, दुःख का ज्ञान और अनात्म का ज्ञान। इन तीनों का ज्ञान होने से ही विपश्यना होती है।

अनित्य का ज्ञान- बौद्ध दर्शन का सिद्धांत है- क्षणिकवाद। प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय हो रहा है। क्षणभंगुरता का ज्ञान ही अनित्यता का ज्ञान है।

दुःख का ज्ञान- जन्म, बुढ़ापा, रोग और मरण- ये चारों ही दुःख हैं। इस दुःख का ज्ञान ही विपश्यना का आधार है।

अनात्म का ज्ञान- बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है। आत्मा के सन्दर्भ में बौद्ध दर्शन मौन है। अतः अनात्म का ज्ञान हो जाने पर विपश्यना प्रकट होती है। जैन दर्शन में अनित्यवाद, दुःखवाद और अनात्मवाद मान्य नहीं है। इन तीन आधारों से ही प्रेक्षा और विपश्यना के दार्शनिक आधार की भिन्नता स्पष्ट होती है।

आध्यात्मिक आधार

प्रेक्षा- प्रेक्षाध्यान-पद्धति कायोत्सर्ग पर आधारित है। प्रेक्षाध्यान का प्रारम्भ कायोत्सर्ग यानी शरीर को त्यागना- से होता है और इसका समापन भी कायोत्सर्ग यानी काया का निरोध, काया का उत्सर्ग से होता है। शरीर और आत्मा एक नहीं हैं, अलग-अलग हैं। इस भेद-विज्ञान का स्पष्टीकरण प्रेक्षाध्यान के द्वारा स्पष्ट किया जाता है। जैन दर्शन का दार्शनिक पक्ष और साधना पक्ष आत्मा के आधार पर चलते हैं। पूरा आचार शास्त्र ही आत्मा पर आधारित है।

विपश्यना- विपश्यना पद्धति मन को शांत करने के लिए है, राग-द्वेष कम करने के लिए है, केवल जानने और देखने के लिए है। दूसरे शब्दों में इसे इस प्रकार कह सकते हैं- विपश्यना राग-द्वेष और मोह से विकृत हुए चित्त को निर्मल बनाने की

साधना है। दैनिक जीवन के तनाव-खिंचाव से विकृत हुए चित्त को ग्रन्थि विमुक्त करने का सक्रिय अभ्यास है।^{२२}

जैन दर्शन में जहां आत्मा की बात कही जाती है, वहीं बुद्ध कहते हैं- दुःख को मिटाओ, दुःख के हेतु को मिटाओ, आत्मा के झगड़े में मत पड़ो, महावीर कहते हैं- केवल अग्र को मत पकड़ों, मूल तक जाओ।^{२३} बुद्ध का दर्शन है- अग्र पर ध्यान केन्द्रित करना, वहीं महावीर का दर्शन है- केवल अग्र नहीं, मूल पर केन्द्रित होना। प्रेक्षाध्यान के साथ आत्म-साक्षात्कार का दर्शन जुड़ा है वहीं विपश्यना के साथ दुःख को मिटाने का दर्शन जुड़ा है। प्रेक्षाध्यान और विपश्यना में कुछ प्रयोग समान हैं, फिर भी उनकी प्रयोग-विधि में अन्तर है। नीचे कुछ प्रयोगों का किस-किस ध्यान-पद्धति में प्रयोग किया जाता है, इसका उल्लेख किया जा रहा है-

श्वास प्रेक्षा- इसका प्रयोग विपश्यना और प्रेक्षा दोनों में ही किया जाता है। विपश्यना सहज श्वास को देखने पर बल देती है।^{२४} प्रेक्षा में दीर्घश्वास पर बल दिया जाता है।^{२५} विपश्यना में प्रयत्न नहीं किया जाता जबकि प्रेक्षा में प्रयत्नपूर्वक लम्बा श्वास लेने का निर्देश भी दिया जाता है। जहाँ एक ओर सहज श्वास का प्रयोग है तो दूसरी ओर प्रयत्नकृत दीर्घश्वास का प्रयोग। विपश्यना में कहा जाता है- जो अनायास, सहज, श्वास चल रहा है उसकी विपश्यना करो, उसे देखो, किसी प्रकार का आयास मत करो।^{२६} प्रेक्षा में कहा जाता है- गहरा, लम्बा और लयबद्ध श्वास लें, गहरा, लम्बा और लयबद्ध श्वास छोड़ें, आते- जाते श्वास की प्रेक्षा करें।^{२७} प्रेक्षा में आयास का विरोध नहीं है अपितु वहां पर प्रयत्न द्वारा श्वास लेने का सुझाव दिया जाता है।

श्वास संयमः समवृत्ति श्वास प्रेक्षा

विपश्यना में कुम्भक का प्रयोग नहीं कराया जाता है। प्रेक्षा में इसका प्रयोग किया जाता है। लयबद्ध श्वास भी प्रेक्षाध्यान में किया जाता है, जिसमें श्वास की प्रत्येक आवृत्ति समान होती है। इसकी विधि है- पांच सेकेण्ड श्वास लेना, पांच सेकेण्ड श्वास भीतर रोकना, पांच सेकेण्ड श्वास बाहर निकालना, पांच सेकेण्ड श्वास बाहर रोकना।^{२८} इस प्रकार पुनः इस क्रिया को दोहराना चाहिए। प्रेक्षा में समवृत्ति श्वास प्रेक्षा का प्रयोग भी किया जाता है। विपश्यना में ऐसा कोई प्रयोग नहीं कराया जाता है। इस प्रयोग की विधि है- दाएं नथुने से श्वास लेकर बाएं नथुने से निकालें और बायें से श्वास लेकर दाएं नथुने से श्वास बाहर निकालें। चित्त और श्वास- दोनों साथ-साथ चलें, निरन्तर श्वास का अनुभव करें।^{२९} इसके अतिरिक्त चन्द्रभेदी श्वास, सूर्यभेदी श्वास, उज्जाई श्वास आदि अनेक प्रयोग प्रेक्षा को विपश्यना से अलग करते हैं, क्योंकि विपश्यना में ऐसे कोई प्रयोग नहीं कराये जाते हैं।

आसन- विपश्यना में आसन का निषेध है, क्योंकि बौद्ध साधना-पद्धति में आसन-सम्मत नहीं है। भगवान् महावीर ने आसनों को बहुत महत्त्व दिया है। स्थानांग-सूत्र में आसनों के अनेक प्रकार बतलाए गए हैं।^{३०} भगवान् महावीर ने स्वयं अनेक आसनों के प्रयोग किये थे। यहां तक कि उन्हें केवल-ज्ञान भी एक विशिष्ट आसन-गौदुहिका में उपलब्ध हुआ था।^{३१} तपस्या का भी एक प्रकार- काय क्लेश-आसन का प्रयोग है।^{३२} ध्यान के साथ आसन का होना अत्यन्त जरूरी है, क्योंकि ध्यान से पाचन तंत्र गड़बड़ा जाता है और अग्नि मंद हो जाती है। आसन से स्वास्थ्य भी सुदृढ़ होता है और ध्यान से होने वाली शरीर की हानियों से बचा जा सकता है।^{३३}

प्राणायाम- विपश्यना में प्राणायाम को महत्त्व नहीं दिया गया है। प्रेक्षा में यह प्रयोग किया जाता है। प्राण पर नियंत्रण करने के लिए प्राणायाम आवश्यक है। प्राण पर नियंत्रण किये बिना चंचलता पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता है। हठयोग में तो प्राणायाम को अलग से महत्त्व दिया गया है, जिसमें प्राणायाम के अनेक प्रकारों को बताया गया है।^{३४}

मौन- विपश्यना में मौन का प्रयोग बड़ी कड़ाई से कराया जाता है। पूरे शिविर काल तक मौन का प्रयोग होता है।^{३५} प्रेक्षा में मौन पर इतना बल नहीं दिया गया है। उसमें मात्र सुझाव देते हैं कि अनावश्यक बातचीत न करें, आवश्यकता होने पर ही बोलें। मौन तभी पूर्ण होता है जब मन, वाणी और शरीर तीनों से उसका पूर्ण पालन किया जाय।

शरीर प्रेक्षा- विपश्यना और प्रेक्षा दोनों में ही यह प्रयोग कराया जाता है। जिसमें शरीर की सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया को राग-द्वेष रहित होकर देखने का सुझाव दिया जाता है। पूरे शरीर को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर कहीं भी रुके बिना देखते चले जाते हैं। यह प्रयोग दोनों ही पद्धतियों में समान है।^{३६}

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा- विपश्यना में ऐसा कोई प्रयोग नहीं है। इस प्रयोग में एक केन्द्र पर रुक कर ध्यान किया जाता है। ध्यान का प्रारम्भ चैतन्य केन्द्रों से ही प्रारम्भ होता है। किसी एक केन्द्र पर ध्यान करना धारणा है। जब आधा-एक घंटा तक उसी केन्द्र पर चित्त केन्द्रित बना रहे तो वह ध्यान हो जाता है। ध्यान का प्रारम्भिक अंग ही धारणा है। एक बिन्दु पर धारणा होते-होते जब चित्त उस पर एकाग्र हो जाता है तो वह ध्यान हो जाता है। एक सूत्र भी है- धारणा को बारह से गुणा करने पर वह ध्यान हो जायेगा और ध्यान को बारह से गुणा करने पर वह समाधि हो जाती है।^{३७}

स्वाध्याय और जप- विपश्यना में मंत्र का जप और स्वाध्याय करना निषिद्ध है। प्रेक्षा में इन दोनों को समान महत्त्व दिया गया है, क्योंकि सभी व्यक्तियों की रुचि

एवं क्षमता समान नहीं होती है। इसलिए ध्यान करने से पूर्व उन्हें प्रारम्भ में जप का प्रयोग करवाया जाता है, जिससे वे ध्यान में प्रविष्ट हो सकें। आसन, प्राणायाम, जप आदि से ही साधना का प्रारम्भ करना चाहिए।

अनुप्रेक्षा- विपश्यना में ऐसा कोई प्रयोग नहीं है। अनुप्रेक्षा के सभी प्रयोग चिन्तन पर आधारित हैं। अनुप्रेक्षा के प्रयोग आदतों में परिवर्तन लाने की एक प्रक्रिया है, जिसे पश्चिमी वैज्ञानिक सजेशन और ऑटोसजेशन के प्रयोग कहते हैं। अनुप्रेक्षा का प्रयोग प्रेक्षा का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है।^{३८}

प्रेक्षाध्यान पद्धति में इन सभी प्रयोगों के अतिरिक्त लेश्याध्यान, अनिमेष प्रेक्षा, एकाग्रता और संकल्पशक्ति के भी विशेष प्रयोग कराये जाते हैं, जो किसी अन्य पद्धति में प्रचलित नहीं हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ प्रयोगों में दोनों में समानता नजर आती है, लेकिन इसके अतिरिक्त अन्य प्रयोगों का विपश्यना में अभाव-सा नजर आता है। जबकि प्रेक्षा में इन प्रयोगों के अनेक प्रकारों का अभ्यास कराया जाता है। प्रेक्षा के सभी प्रयोग स्वतंत्र हैं और उनका विकास भी स्वतंत्र रूप से हुआ है। इन दोनों ही पद्धतियों को हम अपूर्ण नहीं कह सकते हैं। अपने-आप में दोनों ही पूर्ण पद्धतियाँ हैं, अन्तर है तो केवल प्रयोगों का।

सन्दर्भ सूची

१. सुरेन्द्र कुमार शर्मा- **हठयोग प्रदीपिका**, गीताप्रेस, गोरखपुर-१/१७.
२. योगी कल्पतरुं नौमि देवदेवं वृषभध्वजं। **ज्ञानार्णव**-शुभचन्द्राचार्य, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९८१, पृ०-३.
३. हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्तानान्यः पुरातनः। **महाभारत-शान्तिपर्व** (पाँचवाँ खण्ड), गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ०-५४०४; ३४९/६५
४. **पातञ्जल योगप्रदीप**-श्री स्वामी ओमानन्दतीर्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ०-६९.
५. तस्य हीन्द्र.....भगवान् वृषभ देवा योगेश्वरः..... नामाभ्यवर्षत- **श्रीमद्भागवत् महापुराण**-प्रथम खण्ड, गीताप्रेस, गोरखपुर; ५/४/३
६. नानायोगचर्चाचरणो भगवान् कैवल्यपति ऋषभ- वही-५/५/२६
७. **ऋग्वेद**- भाग-४, पद्मभूषण डॉ० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय मण्डल, पारडी, बलसाड, १९८८ पृ०-२६.
८. अत्र विप्रतिपद्यन्ते। परं एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे। **बृहदारण्यकोपनिषद्**-हरिनारायण आस्टे, आनन्द आश्रम संस्कृत ग्रंथावली- १८३६, पृ०-१०९.
९. हिरण्यगर्भस्य परत्वमाद्ये द्वितीये कल्पे संसारित्वं विधियमिति विभागः १/४/६ वही, पृ०-१०९.
१०. **तैत्तिरीयारण्यक** (सायण भाष्य) प्रपाठक- १०, अनुवाक- ६२.
११. **महापुराण**- डॉ० देवेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली-१९४४; १२/९५.
१२. युवाचार्य महाप्रज्ञ-**भेद में छिपा अभेद**, जैन विश्व भारती, लाडनू-१९९१, पृ०-९७.

५२ श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

१३. मुनि किशनलाल- **प्रेक्षाध्यान: एक परिचय**, लाडनू- पृ०-२.
१४. युवाचार्य महाप्रज्ञ-**धर्मचक्र का प्रवर्तन**, लाडनू.
१५. डॉ० भरत सिंह उपाध्याय- **ध्यान सम्प्रदाय**, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, पृ०- १३.
१६. वही, पृ०- १५.
१७. **विपश्यना साधना: एक परिचय**, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, पृ०-२.
१८. **संस्कृत-हिन्दी कोश**; वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली- १९९३, पृ०-६९५.
१९. **प्राकृत-हिन्दी कोश**- सं० डॉ० के०आर० चन्द्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी- १९८७ पृ०-७४७.
२०. युवाचार्य महाप्रज्ञ-**भेद में छिपा अभेद**, लाडनू, पृ०-१०६.
२१. युवाचार्य महाप्रज्ञ- **प्रेक्षाध्यान: आधार और स्वरूप**, लाडनू, पृ०-२.
२२. **विपश्यना शिविर की अनुशासन संहिता**- विपश्यना विश्व विद्यापीठ, इगतपुरी
२३. युवाचार्य महाप्रज्ञ- **भेद में छिपा अभेद**, लाडनू, पृ०-१०७.
२४. सत्यनारायण गोयनका- **आत्मदर्शन**, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली- १९९३. पृ०-९३.
२५. युवाचार्य महाप्रज्ञ-**प्रेक्षाध्यान: श्वास प्रेक्षा**, लाडनू
२६. विठ्ठलदास मोदी- **विपश्यना साधना**, आरोग्य मंदिर प्रकाशन, गोरखपुर, पृ०-६.
२७. युवाचार्य महाप्रज्ञ- **प्रेक्षाध्यान: प्रयोग पद्धति**, लाडनू, पृ०-६.
२८. युवाचार्य महाप्रज्ञ- **प्रेक्षाध्यान: श्वास प्रेक्षा**, लाडनू.
२९. युवाचार्य महाप्रज्ञ- **प्रेक्षाध्यान: प्रयोग पद्धति**, लाडनू.
३०. पंच णिसिज्जाओ पण्णत्ताओ, तं जहा-उक्कुडुया, गोदोहिया, समपायपुता, पलियंका, अट्टपलियंका- **स्थानांगसूत्र**-युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर-१९८१, पृ०-४६५; ५/१/५०
३१. युवाचार्य महाप्रज्ञ- **जैन दर्शन: मनन और मीमांसा**, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ०- २८.
३२. ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा। उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेसं तमाहियं। **उत्तराध्ययनसूत्र**- युवाचार्य मधुकर मुनि, ब्यावर-१९८४, पृ०- ५३८; ३०/२७.
३३. युवाचार्य महाप्रज्ञ-**भेद में छिपा अभेद**, लाडनू, पृ०- ११०.
३४. **पातञ्जलयोग प्रदीप**-श्री स्वामी ओमानन्दतीर्थ, गोरखपुर, पृ०-४४०.
३५. विठ्ठलदास मोदी- **विपश्यना साधना**, गोरखपुर, पृ०-५.
३६. वही-पृष्ठ ७ तथा युवाचार्य महाप्रज्ञ- **प्रेक्षाध्यान: प्रयोग पद्धति**, लाडनू, पृ०-९.
३७. युवाचार्य महाप्रज्ञ-**भेद में छिपा अभेद**, लाडनू, पृ०-१११.
३८. युवाचार्य महाप्रज्ञ-**अमूर्त चिन्तन**, लाडनू।





स्वयं की अनेकान्तमयी समझ से तनावमुक्ति

डॉ० पारसमल अग्रवाल*

१. हमारा परिचय

“मैं कौन हूँ?” इस प्रश्न पर अनेकान्तमयी विचार करके हम यह देखेंगे कि इस प्रश्न के उत्तर से हमें न केवल आध्यात्मिक लाभ हो सकता है अपितु दिन-प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में होने वाले तनाव भी बहुत कम हो सकते हैं।

जब हम अपने घर का दरवाजा खुलवाने हेतु घर के अन्दर से यह प्रश्न सुनते हैं “कौन?” तो हम बाहर से जो उत्तर सामान्यतया देते हैं वह उस परिस्थिति में समुचित उत्तर होता है। अनेकान्तवाद के दायरे में “मैं कौन हूँ?” प्रश्न का वह उत्तर भी उस परिस्थिति विशेष में ही स्वीकार किया जाता है।

जब हम किसी कार्यालय में किसी कार्य हेतु जाते हैं व अधिकारी सर्वप्रथम यह जानना चाहता है या प्रश्न पूछता है कि “आप कौन हैं?” तब हम सन्दर्भ के अनुसार अपने नाम के साथ हमारा पद या अपनी फर्म का नाम या पिता का नाम या पति का नाम आदि बताते हैं। हम इतनी जानकारी देते हैं कि जिस कार्य को उस अधिकारी से करवाना चाहते हैं उस कार्य से हमारा सम्बन्ध अधिकारी की समझ में आ जाए। अनेकान्तवाद ऐसे उत्तर को भी इस परिस्थिति में हमारे उचित परिचय के रूप में मान्यता प्रदान करता है।

इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में हमारा परिचय विभिन्न रूपों में होता है। कभी छविग्रह के लिये हम ‘दर्शक’ होते हैं तो कभी ट्रेन के ‘यात्री’ होते हैं तो कभी भी वकील के लिए ‘मुवक्किल’ होते हैं।

इस प्रकार हमारे परिचय परिस्थिति के अनुसार बदलते जाते हैं। हर जगह हमें परिचय देना होता है परन्तु कोई भी हमारे सारे परिचय नहीं सुनना चाहता है। आप बैंक में खाता खुलवाने जायें व वहां अपना परिचय देते हुए कहें कि मैं किसी का पति हूँ, किसी का मुवक्किल हूँ, किसी ट्रेन का यात्री रहा हूँ, आदि-आदि, तो बैंक मैनेजर आपको पागल समझेगा।

* प्रोफेसर, भौतिक विज्ञान, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन (म०प्र०)।

हमारा परिचय (प्रश्न एक उत्तर अनेक)

जब अन्य द्वारा हमसे यह पूछा जाए,
“आप कौन हैं?”, तब उत्तर निर्माकित
प्रकार के होंगे।

जब यह प्रश्न हम स्वयं ही स्वयं से
पूछें, तब उत्तर दो प्रकार के होंगे:

(व्यावहारिक परिचय)

मनुष्य, भारतीय, अमरीकी, पुत्र, मित्र,
खिलाड़ी, व्यापारी, विद्वान्, साधु,
सुन्दर, धनवान्..... (उचित विशेषणों
एवं संबन्धों सहित उक्त पदवियों)

(बदलने वाले परिचय)

अभिमानी, लालची, क्रोधी, दुःखी,
प्रसन्न, तनावग्रस्त, रागी, द्वेषी,,.....

(स्थायी परिचय)

सदैव एक जैसा हूँ, ज्ञान एवं चेतना
लक्षण वाला हूँ, समस्त विकारों व
वासनाओं से परे हूँ। समस्त अन्य
पदार्थों से पृथक् हूँ।

इसकी उपयोगिता क्या?

लोक व्यवहार इस प्रकार के उत्तर से ही चलता है।

इसकी उपयोगिता क्या?

इस परिचय से हमें ज्ञान हो सकता है कि हमारी आत्मा का विकास कितना हुआ है। यदि तनाव ग्रस्त एवं दुःखी हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि आत्मा का विकास अल्प हुआ है। स्थायी परिचय को न समझने के कारण बदलते हुए परिचय को ही अपना (स्थायी) परिचय मान लेना दुःख एवं तनावों का कारण है।

इसकी उपयोगिता क्या?

यह शाश्वत वास्तविकता है जिसकी स्वीकृति एवं समझ में सुख एवं अस्वीकृति में दुःख है। इस सुख या आनन्द की प्राप्ति हेतु इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती है।

सावधानी

- (१) आवश्यकतानुसार पर्याप्त एवं सही परिचय की समझ से व्यक्ति की प्रमाणिकता बनती है।
- (२) दुनियाँ के सामने हम कई रूपों में होते हैं किन्तु विभिन्न रूपों में रहते हुए भी हमारे असली या स्थायी परिचय को नहीं भूलना चाहिए।

सावधानी

हम स्वयं हमारे सामने भी विभिन्न रूपों में बदलते हुए आते हैं। किन्तु इन सभी विभिन्न रूपों में बदले हुए भी हमारे असली या स्थायी परिचय को नहीं भूलना चाहिए।

सावधानी

जिस प्रकार निवास स्थान का स्थायी पता बताने हेतु मकान का रंग बताना आवश्यक नहीं होता है, रंग का उल्लेख गौण किया जाता है, इसका अर्थ यह नहीं होता है कि मकान रंगहीन है। इसी प्रकार आत्मा के स्थायी परिचय के आधार पर अपने को समझने हेतु बदलते हुए परिचय या लौकिक परिचय को गौण करने की आवश्यकता है, नकारने की आवश्यकता नहीं है।

सारांश यह है कि “मैं कौन हूँ?” यह प्रश्न ऐसा है जिसके हजारों उत्तर संभव हैं, किन्तु प्रश्नकर्ता इसके हजारों उत्तर हमसे नहीं सुनना चाहता है। हर व्यक्ति कुछ ही पंक्तियों में इस प्रश्न का उत्तर चाहता है।

इसी बात को आगे बढ़ाते हुए यदि हम स्वयं से यह पूछें कि “मैं कौन हूँ?” एवं जैसे बैंक मैनेजर आपसे हजारों उत्तर नहीं सुनना चाहता है वैसे ही आप भी स्वयं से हजारों उत्तर न चाहते हुए अपने प्रयोजन का सीमित उत्तर सुनना चाहो तो जो भी उत्तर प्राप्त होगा वह इस प्रश्न का आध्यात्मिक उत्तर कहला सकेगा। अध्यात्म का प्रारंभ भी एक अपेक्षा से ऐसे ही उत्तर से होगा। उक्त वाक्य में ‘प्रयोजन’ शब्द की व्याख्या अपने आप में एक स्वतंत्र लेख की अपेक्षा रखती है। हम इस विस्तार को छोड़ते हुए यह कहना चाहेंगे कि अध्यात्म की दृष्टि में ‘मैं’ एक ऐसा पदार्थ हूँ जिसका शरीर के साथ विनाश नहीं होता है। मैं अविनाशी आत्मा हूँ।

२. बदलता परिचय एवं स्थायी परिचय

अध्यात्म के अनुसार इस समय तथाकथित मेरे शरीर के साथ जो ज्ञान गुण वाली आंखों से न दिखाई देने वाली अविनाशी चेतना या आत्मा है, वह मैं हूँ। बात यहाँ ही समाप्त नहीं होती है। “मैं कौन हूँ?” इस प्रश्न का आध्यात्मिक उत्तर थोड़ा और अधिक विशेष है। यदि इतना ही उत्तर होता तो इसे प्रश्नोत्तर के रूप में हम यहाँ नहीं उठाते, क्योंकि अध्यात्म के प्रारंभ में ही यह बताया जाता है कि अध्यात्म अपनी आत्मा को शरीर के साथ होते हुए भी शरीर से भिन्न प्रकार का तत्त्व स्वीकार करता है।

आगे बढ़ने के पूर्व एक सरल उदाहरण पर जरा विचार करें। यदि कोई मुझसे पूछे कि मेरे उज्जैन में स्थित स्थायी निवास का पता क्या है? व यदि इस प्रश्न के उत्तर में निम्नांकित दो प्रकार के उत्तर दूँ तो आप उनको किस रूप में समझेंगे व स्वीकारेंगे?

१. मेरे निवास का पता २२०, विवेकानन्द कालोनी, उज्जैन (म०प्र०) है। यह मकान दो मंजिला है व गुलाबी रंग का है। क्यारी में गुलाब के फूल लग रहे हैं व कैक्टस के गमले भी बाहर से मकान में दिखाई देंगे।

२. मेरे निवास का पता २२०, विवेकानन्द कालोनी, उज्जैन (म०प्र०) है।

इन दो उत्तरों में से पहला उत्तर विस्तृत है किन्तु मकान का यह परिचय कुछ ही महीनों या वर्षों बाद गलत सिद्ध हो सकता है, क्योंकि गुलाबी रंग, गुलाब के फूल, कैक्टस आदि जो आज दिखाई देते हैं वे बदल सकते हैं। किन्तु जिस मित्र ने अपनी डायरी में दूसरा उत्तर लिखा है उसे यह मकान कुछ वर्षों बाद भी मिल सकेगा, वह रंग के बदलने या गुलाब के फूल न होने से भी भ्रमित नहीं होगा।

आप कह सकते हैं कि जिसने अपनी डायरी में पहला उत्तर लिखा है वह भी कुछ वर्षों बाद इसका लाभ ले सकता है। कुछ वर्षों बाद जब मकान का रंग गुलाबी न होकर किसी अन्य रंग का हो जायेगा या गुलाब के फूल की क्यारी न रहेगी तब भी पहले उत्तर को याद रखने वाला विवेक बुद्धि के अनुसार २२०, विवेकानन्द कालोनी, उज्जैन को ही मुख्य आधार मानकार इस मकान को पहचान सकता है।

इस तर्क का प्रति उत्तर यही है कि आपके तर्क ही यह स्वीकार कर रहे हैं कि डायरी में लिखे हुए पहले उत्तर की कांट-छांट विवेक बुद्धि से करके दूसरे उत्तर को ही मुख्य मानना है। यानी प्रश्नकर्ता स्वयं स्वीकार रहा है कि पहले उत्तर में कांट-छांट की आवश्यकता समय-समय पर हो सकती है। व यदि कांट-छांट में मुख्य बिन्दु मानने में भूल हो गई तो हानि होगी। अर्थात् यदि मकान के गुलाबी रंग या गुलाब के फूल या कैक्टस के गमलों को ही मुख्य बिन्दु मान लिया व मकान नंबर २२० को भूल गये तो हानि होगी।

इस उदाहरण से हम यह बताना चाहते हैं कि मकान के पते के मामले में मकान का नंबर, कालोनी का नाम एवं शहर, प्रदेश के अतिरिक्त जो भी जानकारी मकान के रंग, फूल, गमलों आदि के बारे में है वह सब मकान को खोजने में बाधक भी हो सकती है। हां, यदि हमें मुख्य जानकारी (नंबर, कालोनी, शहर) ध्यान में रहे व मुख्य जानकारी को ही प्रमुखता देने की मान्यता रहे तो कदाचित् अतिरिक्त बदलने वाली जानकारी किसी रूप में सहायक भी हो सकती है।

“मैं कौन हूँ?” इस प्रश्न के उत्तर में उपर्युक्त उदाहरण का बहुत उपयोग हो सकता है। जैसे मकान के पते के मामले में मकान नंबर, कालोनी एवं शहर मुख्य हैं व मकान का रंग, गुलाब के फूल, गमले आदि बदलने वाले हैं, उसी प्रकार जो कुछ भी हमारी आत्मा में स्थायी है उसे ही हमारी आत्मा का मुख्य परिचय मानना चाहिये। मुझे अमुक आदमी को क्रोधी देखते ही गुस्सा आता है- यह मेरा बदलने वाला परिचय है। ग्रीष्मकाल में मुझे कूलर की ठंडी हवा से प्रसन्नता मिलती है। यह भी मेरा बदलने वाला परिचय है। मैं देश की कई राजनीतिक दलों की दशा से अप्रसन्न हूँ- यह भी मेरा बदलने वाला परिचय है।

अतः मकान के रंग एवं मकान की क्यारी के फूलों की तरह ये सभी आत्मा के बदलने वाले परिचय हैं। इनको यदि हम अपना वास्तविक एवं स्थायी परिचय मान लेंगे तो हमें निराशा या तनाव या अहंकार ही हाथ लगेंगे। कैसे? जरा विचार करते हैं। मकान के मामले में तो स्पष्ट है कि रंग के आधार पर किसी मकान को याद रखेंगे तो रंग बदलने पर मकान तक नहीं पहुँच सकेंगे। हमारे बारे में भी यदि हमने अपना परिचय बदलने वाली अवस्थाओं के आधार पर माना तो सुहावनी स्थिति के बदलते

ही निराशा होगी व वर्तमान में अप्रिय स्थिति होने पर दुःख होगा या अपराध भाव होगा।

३. बदलने वाले परिचय की अपूर्ण समझ से तनाव

उदाहरण के रूप में हम एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करें जो अपना परिचय एक अच्छे वैज्ञानिक के रूप में मानता है। जब तक इसी मान्यता के अनुसार उसके कार्य होते जाएं व समाज भी उसको वैज्ञानिक मानता रहे तब तक तो सब ठीक चल सकता है, किन्तु जब एक के बाद एक परिस्थितियां, स्वास्थ्य के कारण या पारिवारिक कारण से या राजनीति के कारण से ऐसी होती रहें कि वह वैज्ञानिक कार्य न कर सके, तब उसको बहुत परेशानी होगी। उसकी परेशानी का मूल कारण यह होगा कि उसके “मैं वैज्ञानिक हूँ” वाले परिचय का अन्त हो रहा है। इसके विपरीत कोई व्यक्ति वैज्ञानिक कार्य तो करता रहे किन्तु अपना अस्तित्व (identity) इस रूप में न माने यानी इसे अपना अस्थायी या बदलता हुआ परिचय ही माने तो उसे विपरीत परिस्थिति का सामना करने में बहुत कम कठिनाई होगी। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसा व्यक्ति मानसिक तनाव की कमी के कारण बहुत अच्छे वैज्ञानिक का कार्य कर सके। यही बात अपने आपको बड़े परिवार वाला या धनवान या अच्छा खिलाड़ी या कुशल राजनीतिज्ञ या श्रेष्ठ व्यापारी या बढ़िया अभिनेता आदि के रूप में ही अपना अस्तित्व मानने में लागू होती है। बदलने वाले परिचय को बदलने वाला परिचय मानने में तनाव अल्प होता है।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है— कोई व्यक्ति अच्छा खिलाड़ी है व उसे अच्छे खिलाड़ी के रूप में पूरे विश्व में सम्मान मिल चुका है व मिल रहा है। वह अब उम्र के कारण खेल से रिटायर हो गया है किन्तु अब भी वह अपने आपको प्रसिद्ध खिलाड़ी के रूप में मानते हुए ही प्रसन्न रहता है। यानी अब वह खिलाड़ी नहीं है यह स्वीकार करते हुए भी खिलाड़ी की स्मृतियों के आधार पर ही वर्तमान में प्रसन्न है। ऐसे व्यक्ति को बदलने वाले परिचय के आधार पर अपना परिचय या अस्तित्व मान लेने में क्या परेशानी हो सकती है? यही प्रश्न भूतपूर्व राष्ट्रपति, भूतपूर्व शासकीय अधिकारी आदि पर भी लागू हो सकता है। इसी प्रश्न को आगे बढ़ाते हुए यह भी कहा जा सकता है कि कोई अपना परिचय अच्छे धनी के रूप में माने व पूरे जीवन में उसे धन की कमी नहीं रही है या नहीं रहने वाली हो तो उसे अपना परिचय स्थायी रूप से धनी ही मान लेने में क्या हानि है?

इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने हेतु हम यह विचार कर सकते हैं कि यदि एक भूतपूर्व खिलाड़ी अपना परिचय एक प्रसिद्ध खिलाड़ी के रूप में मानता था व अब भी वह प्रसिद्ध है तो उसको यश में बदलाव महसूस नहीं होगा। फलतः उसकी इस प्रसिद्धि से जुड़ी हुई प्रसन्नता में अन्तर नहीं आयेगा। खेलना उसने चाहे बन्द कर दिया है किन्तु अच्छे खिलाड़ी के रूप में उसकी प्रसिद्धि बन्द नहीं हुई है। अतः प्रसिद्धि की भूख शान्त

होने से वह प्रसन्न है। किन्तु जब कुछ समय बाद जनता या समाचार पत्र उसका उल्लेख करना बंद कर देंगे तब उसे लगेगा कि अब वह प्रसिद्ध नहीं रहा है। तब या तो उसे उस बदलाव को या निराशा को स्वीकारना होगा। सारांश यह है कि जिस रूप में वह अपना परिचय या अस्तित्व मानता है या जिस परिचय के आधार पर वह गौरवान्वित एवं प्रसन्न होता है उस रूप में या उस परिचय में अप्रिय बदलाव आते ही उसे परेशानी या निराशा या तनाव हो सकते हैं।

एक व्यक्ति स्वयं को क्या मानता है, स्वयं को क्या बनाना चाहता है, व समाज उसे क्या मानता है, इन तीनों में जितना अधिक अन्तर होगा उतना अधिक तनाव उस व्यक्ति के जीवन में होगा। इस प्रकार की मान्यता आज आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की है जिसका उल्लेख पाश्चात्य विद्वान् डोनाल्ड नोरकाक^१ ने भी किया है।

चाहे भूतपूर्व प्रसिद्ध खिलाड़ी हो या भूतपूर्व राष्ट्रपति या भूतपूर्व चन्द्रयात्री, सामान्यतया हर व्यक्ति किसी न किसी प्रकार के तनाव से ग्रसित हो सकता है। तनाव का विश्लेषण करने पर हम देखेंगे कि प्रत्येक तनाव का मूलभूत कारण या तो वह अपने से अन्य किसी और के परिचय या अस्तित्व में अपना परिचय या अस्तित्व मान लेता है या अपने बदलते हुए परिचय को बदलने योग्य परिचय न मानकर उसे अपना स्थायी परिचय या अस्तित्व मान लेता है।

वर्तमान में तनाव का कारण पारिवारिक अशान्ति हो, या स्वास्थ्य हो, या यश में कमी हो, या अपराध भाव हो, या और भी कुछ हो, जो भी कारण हो उसका विश्लेषण करने पर इसी सिद्धान्त की पुष्टि होगी कि दूसरे में “मैं” या बदलने योग्य अवस्था में “मैं” आरोपित करने से ही तनाव पैदा होता है।

इतना पढ़ने के उपरान्त कोई पाठक यह जानना चाहेगा कि क्या एक धनी, धन से प्रसन्नता अनुभव न करे? इस प्रश्न के समाधान हेतु एक सामान्य उदाहरण पर विचार करते हैं। कल्पना करें हम एक बालक के माता-पिता की जो बालक को एक मंहगा गुब्बारा खरीद कर दिलाते हैं व बालक के साथ वे गुब्बारे से खेल रहे हैं। बालक बहुत प्रसन्न है क्योंकि उसके पास अच्छा गुब्बारा है, उसके मम्मी-पापा उसके साथ खेल रहे हैं। अब यदि एक छोटा सा प्रश्न आप यहाँ पूछते हैं कि माता-पिता इससे प्रसन्न होंगे या नहीं? तो इसका उत्तर देने के पूर्व हम आप से यह जानना चाहेंगे कि वे गुब्बारे खरीदने की सामर्थ्य से उत्पन्न गर्व से प्रसन्न होंगे या गुब्बारे से प्रसन्न होंगे या बालक की प्रसन्नता से प्रसन्न होंगे? इस प्रश्न के उत्तर को धन-से-प्राप्त प्रसन्नता के बारे में लगाया जा सकता है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि माता-पिता गुब्बारे की सीमित जिन्दगी भी मान रहे हैं किन्तु फिर भी प्रसन्न हैं।

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी चर्चा करने योग्य है कि क्या कोई व्यक्ति अपनी स्थायी पहचान किसी रूप में बनाने का प्रयास न करे? यानी, कोई क्रिकेट खिलाड़ी अपनी पहचान अच्छे क्रिकेट के खिलाड़ी के रूप में बनाना चाहे तो क्या हानि है? इसके उत्तर में यही कहना उचित होगा कि प्रधानमंत्री बनने का अर्थ यह नहीं है कि कुर्सी कभी भी छोड़ने को तैयार न हो। उचित समय पर एक क्रिकेट खिलाड़ी को भी सहर्ष रिटायर होने के लिए तैयार होना चाहिए।

और भी कई प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं किन्तु उनकी चर्चा यहां आवश्यक नहीं है, क्योंकि मुख्यतः यह लेख जो तनावग्रस्त हैं उनके तनाव को कम करने हेतु लिखा जा रहा है। महत्वाकांक्षा, धनात्मक चिंतन आदि के कारण से यदि कोई व्यक्ति तनावग्रस्त है तो उस व्यक्ति ने महत्वाकांक्षा, धनात्मक चिंतन आदि को ठीक तरह से नहीं समझा है। यह विश्लेषण आशा का संचार करने हेतु है। आगे स्थायी परिचय के वर्णन में भी धनात्मकता का वर्णन किया जा रहा है।

४. स्थायी परिचय

स्थायी परिचय का अर्थ ऐसा परिचय है जो सदैव एक जैसा रहे। यहां हम “तथाकथित स्थायी परिचय” की बात नहीं कर रहे हैं। “स्थायी” शब्द का भारी से भारी अर्थ करते हुए निर्विवाद रूप से स्थायी शब्द का जो गहनतम अर्थ हो सकता है उसे स्वीकार करना है। भूतकाल, वर्तमानकाल एवं भविष्य, तीनों कालों में जो समान हो, शाश्वत हो, एक जैसा हो, अटल हो, अचल हो ऐसे परिचय को स्थायी परिचय कहा जाता है।

सरल शब्दों में कहा जाये तो आत्मा कभी चींटी के शरीर में विराजमान था या आज मनुष्य के शरीर को धारण किये हुए है या अगले जन्म में कोई अन्य शरीर धारण करे, इन सभी बदलती हुई अवस्थाओं में आत्मा के विचारों एवं सुख-दुःख के अनुभव में जो बदलाव आता है वह आत्मा का स्थायी परिचय नहीं है। इन सभी बदलती हुई अवस्थाओं में भी आत्मा का जो भाव स्थायी या एक जैसा रहता है वह आत्मा का स्थायी परिचय है। इस स्थायी भाव को जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में पारिणामिक भाव^२ कहा जाता है। मेरी आत्मा में जो स्थायीपना है वह मेरा स्थायी परिचय है। आध्यात्मिक दृष्टि से वही मैं हूँ। इस परिचय में मैं ‘अनेक’ प्रकार का न होकर ‘एक’ ही रहता है।

स्पष्ट है कि आत्मा के इस स्थायी परिचय के अनुसार आत्मा न केवल दूसरे पदार्थों से भिन्न है अपितु मानसिक इच्छाओं, विकल्पों, क्रोध, अहंकार, वासना आदि से भी परे है क्योंकि ये सभी बदलते रहते हैं।

आत्मा के कई गुण आत्मा के साथ सदैव रहते हैं किन्तु अचेतन पदार्थों से भिन्नता दर्शाने वाले आत्मा के दर्शन एवं ज्ञान गुणों का कथन प्रधानता से किया जाता है।

अपनी आत्मा के स्थायी परिचय को बताने वाली आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित निम्नांकित पंक्तियां^३ बहुत सुन्दर हैं-

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।

णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तपि।।

इसका भावार्थ यह है कि मैं सदैव एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ; किंचित्मात्र भी अन्य पदार्थ परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

इसी स्थायी परिचय की तरफ ध्यान दिलाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं^४

शुद्धः शुद्ध स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति।

अर्थात् यह आत्मा शुद्ध है, निजरस से परिपूर्ण है व स्थायीभावत्व को प्राप्त है।

इन्हीं आचार्य की निम्नांकित पंक्ति^५ भी अत्यन्त मनोहारी है-

शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्यहम् ।

अर्थात् मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ। आत्मा या स्वयं के संबन्ध में निम्नांकित उद्धरण भी विचारणीय है:

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को श्रीकृष्ण निम्न^६ रूप से समझाते हैं कि वह कौन है-

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

इसका भावार्थ यह है कि शरीर से परे इन्द्रियां, इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि है एवं इस बुद्धि से परे 'वह' यानी आत्मा है।

रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी स्थायी परिचय को 'परमार्थ' एवं बदलते हुए परिचय को माया बताते हुए कहते हैं-^७

योग वियोग भोग भल मंदा, हित अनहित मध्यम भ्रम फन्दा।

जन्म मरण जंह लगि जग जालू, संपति विपति कर्म अरु कालू॥

धरणि धाम धन पुर परिवारू, स्वर्ग नरक जंह लगि व्यवहारू।

देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं, मायाकृत परमारथ नाही॥

इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि समस्त योग, वियोग, भलाई-बुराई, कर्म, आदि परमार्थ नहीं हैं।

आधुनिक अमरीकी मनोवैज्ञानिक लूई हे लिखती हैं-^८

"I am now perfect, whole and complete. I will always be perfect, whole and complete."

अर्थात् मैं परिपूर्ण हूँ एवं सदैव परिपूर्ण रहूँगा (रहूँगी)।

अमरीकी लेखक डाक्टर डेविड बर्न एक मनोवैज्ञानिक एवं मनोचिकित्सक हैं व अत्यन्त निराश व्यक्तियों की चिकित्सा करने के विशेषज्ञ हैं। कई व्यक्तियों की आत्महत्या करने की मनोदशा समझकर उनकी मनोचिकित्सा डॉ० बर्न ने की है व इस दिशा में बहुत अनुसंधान कार्य भी किया है। उनकी मनोचिकित्सा का भी प्रमुख मंत्र यही है कि **स्वयं की दृष्टि में स्वयं का मूल्य (self worth) सदैव समान रहना चाहिए**। उनके अनुसार हमारी दृष्टि ऐसी होनी चाहिए कि हमारा मूल्य हमारी निगाहों में कभी भी न तो कम हो और न ही ज्यादा, सदैव स्थिर रहे।^९

अमरीकी मनोवैज्ञानिक डॉ० वेन डायर जो कि विश्व में सर्वाधिक विक्रय वाली एक पुस्तक, *Your erroneous zones*, के लेखक हैं अपनी नवीन पुस्तक (शीर्षक: You'll see it when you believe it) के प्रारंभिक अध्याय में निम्नांकित पंक्तियाँ^{१०} लिखते हैं:-

"The principles in this book start with the premise that you are a soul with a body, rather than a body with a soul. That you are not a human being having spiritual experience, but rather a spiritual being having a human experience."

इन पंक्तियों का भावार्थ यह है कि आप आत्मा हैं जिसके साथ शरीर लगा हुआ है, न कि शरीर है जिसमें आत्मा स्थित है। आप चैतन्यता अनुभव करने वाले मनुष्य न होकर, स्वयं चैतन्य तत्त्व हैं।

इसी पुस्तक के अन्तिम अध्याय के निम्नांकित^{११} शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं-

"It is like having a guardian angel or a loving observer as a part of your consciousness, a companion that you are always having compassionate silent

conversations with, a consciousness behind your form. That part is always perfect. There is no struggle or suffering in that part of you. That is your transcendent dimension of thought."

इन पंक्तियों का भावार्थ यह है कि आपकी चेतना का एक भाग ऐसा है जहां कोई संघर्ष नहीं है, कोई कष्ट नहीं है, सदैव परिपूर्ण है, वह सदैव एक दैवीय सहारे की तरह आपका शाश्वत साथी है।

५. स्वयं की यथार्थ समझ का अभ्यास

टाइपराइटर के अक्षरों की स्थिति का ज्ञान होते ही टाइप करना नहीं आ जाता है। कार के एक्सीलेरेटर, गिअर, क्लच, ब्रेक आदि की जानकारी लेते ही कार चलाना नहीं आ जाता है। जानकारी के बाद अभ्यास की आवश्यकता होती है। जानकारी अन्दर गहराई तक उतरनी चाहिए।

इसी प्रकार अपनी आत्मा के स्थायी परिचय एवं बदलने योग्य परिचय की जानकारी से विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। वीणा, कार, टाइपराइटर आदि के अभ्यास की तरह इसके अभ्यास हेतु बार-बार इस तरह के वर्णनों का पठन, चिंतन एवं मनन की भी आवश्यकता है। अपने स्थायी परिचय एवं अस्थायी परिचय में भेद-ज्ञान को गहराई तक उतारने हेतु हमें अभ्यास करना होगा।

उक्त भेदज्ञान को हृदयंगम करने के बाद वे घटनाएं जो हमें व्यथित एवं तनावग्रस्त कर देती थीं अब व्यथित नहीं कर सकेंगी। ऐसी घटनाओं की आवृत्ति भी कम हो सकती है।

वर्षा से कच्चा मकान भी भीगता है व पक्का मकान भी किन्तु अन्तर यह रहता है कि पक्के मकान की छत से पानी मकान के अन्दर प्रवेश नहीं करता है अतः मकान-निवासी मकान के बाहर से भीगने के बावजूद उस वर्षा से व्यथित नहीं होता है। स्वयं की यथार्थ समझ हमारी आत्मा को वैसा ही पक्कापन प्रदान करती है।

‘स्वयं की समझ’ विषय पर चर्चा का समापन करते हुए बैंक के एक कैशियर का उदाहरण लेते हैं। यह कैशियर प्रति समय किसी को रुपये दे रहा होता है या ले रहा होता है। एक तरफ देने या लेने में पूरी सावधानी रखता है तो दूसरी तरफ उसी समय इसका भी उसे विश्वास एवं ज्ञान रहता है कि यदि किसी ने दस लाख रुपये जमा कराये हैं तो उन रुपयों से वह धनवान नहीं हो रहा है व कोई दस लाख रुपये ले रहा होता है तो वह गरीब नहीं हो रहा है। स्वयं की अनेकान्तमयी समझ के अभ्यास से भी ऐसा ही अनेकान्त हमारे जीवन में उतरेगा। हमारी क्रियाएं इस प्रकार होंगी कि बैंक

कैशियर के अनेकान्त की तरह समस्त लेन-देन के लिये हम किसी सीमा तक अपने को जिम्मेदार मानने के साथ हर समय हमें यह भी ध्यान रहेगा कि हमारी जेब में न तो कुछ आ रहा है और न ही हमारी जेब से कुछ जा रहा है। ऐसी दृष्टि के साथ जो कार्य भी हमसे होते रहेंगे उनमें इतनी विशेषता, विशालता एवं सुगंध होगी कि न केवल हम स्वयं अपितु हमारा पर्यावरण भी सुवासित हो सकेगा।

सन्दर्भ-

१. Donald Norfolk. 'Executive stress', (Warner Books, NewYork. 1986). page. 108 पर निम्नांकित पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं-
'Most people show a discrepancy between their public image, self-image and ego-ideal (the sort of person they would like to become). They suffer stress and loss of self-esteem only when the gap between these concepts grows too great and reality as they perceive it bears no relation to either their hopes on public facade.'
२. आचार्य उमास्वामी, **तत्त्वार्थसूत्र**, अध्याय २, सूत्र १ में ५ भवों का वर्णन हुआ है-
"औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य
स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च"
इन पांच भावों में पारिणामिक भाव ही कर्म निरपेक्ष है।
३. आचार्य कुन्दकुन्द, **समयसार**, गाथा ३८.
४. आचार्य अमृतचन्द्र, श्री समयसार-कलश, सोनगढ़ १९६५ ई०, ६/१८५.
५. वही, ६/१८५.
६. **श्रीमद्भगवद्गीता**, अध्याय ३, श्लोक ४२.
७. गोस्वामी तुलसीदास, **रामचरितमानस**, अयोध्याकाण्ड (प्रसंग लक्ष्मणनिषादसंवाद).
८. Louise L. Hay. 'You can heal your life', (Hay House, Santa Monica, USA) p. 45
९. "Acknowledge that everyone has one 'unit of worth' from the time they are born until the time they die. As an infant you may achieve very little, and yet you are still precious and worthwhile. And when you are old or ill, relaxed or, asleep or just doing 'nothing', you still have 'worth'. Your 'unit of worth' can't be measured and can never change, and it is the same for every one."
David D. Burns, 'Feeling Good', (SIGNET, Nal Panguin Inc., NewYork, 1980, pp. 301-2.
१०. Wayne W. Dyer, 'You'll see it when you believe it'. (Arrow Books, London 1990), page 8.
११. *Ibid*, p. 273





खरतरगच्छ-पिप्पलकशाखा का इतिहास

डॉ० शिवप्रसाद*

अन्यान्य गच्छों की भाँति खरतरगच्छ से भी समय-समय पर विभिन्न घटनाक्रमों अथवा कारणों से अस्तित्व में आयी विभिन्न शाखाओं में पिप्पलकशाखा भी एक है। वि० सं० १४६९/ई० स० १४१३ या वि० सं० १४७४/ई० स० १४१८ में खरतरगच्छीय आचार्य जिनराजसूरि के पट्टधर जिनवर्धनसूरि से यह शाखा अस्तित्व में आयी।^१ जैसलमेर स्थित चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनालय स्थित क्षेत्रपाल के उपद्रव के कारण खरतरगच्छ के वरिष्ठ आचार्य सागरचन्द्रसूरि ने जिनराजसूरि के पट्ट पर आसीन जिनवर्धनसूरि को हटाकर उनके स्थान उनके स्थान पर जिनभद्रसूरि को प्रतिष्ठित किया, जिससे जिनवर्धनसूरि और उनके शिष्य समुदाय में तीव्र असन्तोष फैल गया और परिणामस्वरूप उन्होंने अपने शिष्यों और अनुयायियों के साथ मुख्य शाखा से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इस घटना के पश्चात् जिनवर्धनसूरि पीपलिया ग्राम में ही रहने लगे अतः उनका शिष्य समुदाय पिप्पलकशाखा या पीपलिया शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो गया।^२

खरतरगच्छ की इस शाखा में आज्ञासुन्दर, विवेकहंस, जिनसागरसूरि, जिनसमुद्रसूरि, जिनदेवसूरि, जिनसुन्दरसूरि, जिनहर्षसूरि, जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय', धर्मसमुद्रगणि, राजसुन्दर, जिनवर्धमानसूरि आदि कई प्रसिद्ध ग्रन्थकार हो चुके हैं।

पिप्पलकशाखा से सम्बद्ध अनेक जिनप्रतिमायें मिली हैं जो वि० सं० १४६७ से वि० सं० १५७७ तक की हैं। प्रचलित परम्परानुसार इस शाखा से सम्बद्ध रचनाकारों की विभिन्न कृतियों में उनकी गुरु-परम्परा की छोटी-छोटी गुर्वावली भी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त वि० सं० १६६९/ई० स० १६१३ में रची गयी इस शाखा की एक पट्टावली^३ भी मिलती है जो जिनचन्द्रसूरि 'तृतीय' के शिष्य राजसुन्दर की कृति है। साम्प्रत निबन्ध में उक्त सभी साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर खरतरगच्छ की इस शाखा के इतिहास पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

शाखा प्रवर्तक आचार्य जिनवर्धनसूरि अपने समय के उद्भट विद्वानों में से एक थे। वि० सं० १४७४/ई० सन् १४१८ में उन्होंने शिवादित्य द्वारा रचित **सप्तपदार्थी** नामक कृति पर **वृत्ति** की रचना की।^४ **वाग्भट्टालंकारटीका**^५ तथा **पूर्वदेशीय**

* प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

चैत्यपरिपाटी^६, सत्यपुरमंडनवीरस्तवन, वीरस्तोत्र (श्लेष), प्रतिलेखनाकुलक आदि भी इन्हीं की कृतियां हैं। वि० सं० १४६७ से वि० सं० १४७८ तक के १५ प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में इनका नाम मिलता है। जैसलमेर के लक्ष्मणविहार पार्श्वनाथ जिनालय के प्रतिष्ठापक भी यही आचार्य हैं। जैसलमेर स्थित महावीर जिनालय में रखी हुई चौबीस माता के पट्ट पर उत्कीर्ण वि० सं० १४७३ के लेख में भी प्रतिष्ठापक के रूप में इनका उल्लेख मिलता है।^७

जिनवर्धनसूरि द्वारा प्रतिष्ठापित और अद्यावधि उपलब्ध प्रतिमाओं का विवरण

क्र०	वि० सं०	तिथि/मिति	लेख का प्रकार	प्राप्तिस्थान	संदर्भ ग्रन्थ
१.	१४६७	ज्येष्ठ वदि५	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	मुनिसुव्रत जिनालय, मालपुरा	विनयसागर, संपा०, प्रतिष्ठालेखसंग्रह , लेखांक १९२
२.	१४६९	माघ सुदि६	”	पंचायती मंदिर, जयपुर	वही, लेखांक १९७
३.	१४६९	”	जिनराजसूरि की प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, देलवाड़ा, उदयपुर	मुनि विद्याविजय, संपा०, प्राचीनलेखसंग्रह , लेखांक १०५
४.	१४६९	तिथिविहीन	आदिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	पंचायती मंदिर, जयपुर	प्रतिष्ठालेखसंग्रह , लेखांक २००
५.	१४६९	”	शांतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, भैसरोडगढ़	वही, लेखांक २०१
६.	१४७३	चैत्र पूर्णिमा	—	आदिनाथ जिना०, देलवाड़ा	प्राचीनलेखसंग्रह , लेखांक १०८
७.	१४७३	चैत्र पूर्णिमा	अजितनाथ की प्रतिमा का लेख	चन्द्रप्रभ जिनालय, जैसलमेर	पूरनचन्द नाहर, संपा०, जैनलेखसंग्रह , भाग ३, लेखांक २२८८-२२८९
८.	१४७३	”	प्रशस्तिलेख	पार्श्वनाथ जिनालय, जैसलमेर	वही, भाग ३, लेखांक २११२-२११३
९.	१४७३	”	चौबीस जिन-माता के पट्ट पर उत्कीर्ण लेख	महावीर जिनालय, जैसलमेर	वही, भाग-३, लेखांक २४३२
१०.	१४७३	”	शांतिनाथ की प्रतिमा का लेख	बृहत्खरतरगच्छ का उपाश्रय, जैसलमेर	वही, भाग-३, लेखांक २४७९
११.	१४७३	”	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	वाफणा सवाईराम का मंदिर, जैसलमेर	वही, भाग-३, लेखांक २५३८
१२.	१४७३	वैशाख वदि१	शांतिनाथ की पंचतीर्थी प्रतिमा का लेख	बड़ा मंदिर, नागौर	प्रतिष्ठालेखसंग्रह , लेखांक २०८

क्र०	वि० सं०	तिथि/मिति	लेख का प्रकार	प्राप्तिस्थान	संदर्भ ग्रन्थ
१३.	१४७३	ज्येष्ठ सुदि४	चौबीसी जिन प्रतिमा का लेख	आदिनाथ जिनालय, देलवाड़ा, उदयपुर	प्राचीनलेखसंग्रह, लेखांक ११२
१४.	१४७५	ज्येष्ठ सुदि७ गुरुवार	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख	पार्श्वनाथ जिनालय, देलवाड़ा, उदयपुर	वही, लेखांक ११५
१५.	१४७८	तिथिविहीन	अम्बिका की प्रतिमा का लेख	सुपार्श्वनाथ जिनालय, नाहटों की गुवाड़, बीकानेर	अगरचंद भंवरलाल नाहटा, संपा०, बीकानेर जैनलेखसंग्रह, लेखांक १७६९

वि० सं० १४६९ के एक प्रतिमालेख में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में खरतरगच्छीय जिनचन्द्रसूरि का नाम मिलता है।^{१८} चूंकि इस समय खरतरगच्छ की पिप्पलकशाखा को छोड़कर किन्ही अन्य शाखाओं में इस नाम के कोई आचार्य या मुनि नहीं हुए हैं^{१९}, अतः उक्त प्रतिमा के प्रतिष्ठापक जिनचन्द्रसूरि पिप्पलक शाखा के प्रवर्तक जिनवर्धनसूरि के शिष्य जिनचन्द्रसूरि से अभिन्न माने जा सकते हैं। महो० विनयसागर का मत है कि सम्भवतः उक्त जिनचन्द्रसूरि खरतरगच्छ की लघु शाखा से सम्बद्ध रहे हों। इनके द्वारा वि० सं० १४८६ में प्रतिष्ठापित तीन प्रतिमायें भी मिली हैं^{२०}, इनमें से एक प्रतिमा महावीर की और दूसरी जिनवर्धनसूरि की है। महावीर की प्रतिमा पर प्रतिमाप्रतिष्ठापक जिनचन्द्रसूरि के गुरु जिनवर्धनसूरि का भी नाम मिलता है।

पिप्पलकशाखा के ही मुनि आज्ञासुन्दर ने वि० सं० १४९५/ई० सन् १४३९ में स्वलिखित **बप्पभट्टिसूरिआमनृपतिचरित** की प्रतिलिपि की प्रशस्ति में स्वयं को जिनवर्धनसूरि का शिष्य बतलाया है।^{२१} वि० सं० १५१६/ई० सं० १४६० में उन्होंने **विद्याविलासचौपाई** नामक कृति की रचना की।^{२२} इस प्रकार जिनवर्धनसूरि के दो शिष्यों-जिनचन्द्रसूरि 'प्रथम' और आज्ञासुंदर के बारे में जानकारी प्राप्त हो जाती है। इनमें से जिनचन्द्रसूरि 'प्रथम' उनके पट्टधर हुए।

जिनचन्द्रसूरि 'प्रथम' के दो शिष्यों जिनसागर (आचार्य पद वि० सं० १४९० वैशाख वदि १२) और जिनसमुद्र के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। वि० सं० १४९१ से वि० सं० १५२० तक के कुल २१ प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में इनका नाम मिलता है।^{२३} वि० सं० १४९४/ई० सन् १४३८ का एक लेख जो, एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है, में इनके कुछ शिष्यों का भी उल्लेख मिलता है। मुनि जयन्तविजय^{२४} ने इस लेख की वाचना निम्नानुसार दी है:

संवत् १४९४ वर्षे पौष सुदि २ रवौ। श्री खरतरगच्छे श्री पूज्य श्रीजिनसागरसूरि गच्छनायकसमादेशेन निरंतरं श्री विवेकहंसोपाध्यायाः पं० लक्ष्मीसागरगणि जयकीर्तिमुनि रत्नलाभमुनि देवसमुद्रक्षुल्लक धर्मसमुद्रक्षुल्लक प्रमुखसाधुसहाया (ः)॥ तथा भावमतिगणि

७० श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

(नी) प्र० धर्मप्रभागणि (नी) रत्नसुंदरि (री) साध्वी प्रमुख सं०मोल्हा सं० डूंगर सा० मेला प्रमुख श्रावक श्राविका प्रभृति श्रीविधिसमुदायसहिताः श्रीआदिनाथ श्रीनेमिनाथौ प्रत्यहं प्रणमंति॥

प्राप्ति स्थान-

विमलवसही, आबू

जिनचन्द्रसूरि के द्वितीय शिष्य जिनसमुद्रसूरि द्वारा रचित न कोई कृति मिलती है और न ही किसी प्रतिमालेखादि में इनका प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में कोई उल्लेख ही है। इनके शिष्य जिनदेवसूरि हुए जिनसे वि०सं० १५६६/ई०सं० १५१० में खरतरगच्छ की आद्यपक्षीयशाखा अस्तित्व में आयी।^{१५}

पिप्पलकशाखा के मुनि धर्मचन्द्र ने वि०सं० १५१३/ई० सन् १४५७ में **सिन्दूरप्रकरव्याख्या** की रचना की।^{१६} **कर्पूरमंजरीसट्टकटीका** और **स्वात्मसम्बोध** भी इन्हीं की कृतियां हैं।^{१७} उक्त कृतियों की प्रशस्तियों में इन्होंने स्वयं को जिनसागरसूरि का शिष्य बतलाया है।

पिप्पलकगच्छीय जिनसुन्दरसूरि (आचार्य पद वि०सं० १५११) द्वारा प्रतिष्ठापित दो सलेख प्रतिमायें मिली हैं। ये वि०सं० १५१५ और वि०सं० १५२५ की हैं। इन लेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक आचार्य के गुरु-रूप में जिनसागरसूरि का नाम मिलता है।

इनका मूलपाठ निम्नानुसार है :

१- सं० १५१५ माघ सुदि १४ दिने ऊ०वं० जांगड़ा गोत्रे सा० काल्हा भाया झवकू सुत सा० रूपाकेन सपरिवारेण श्री संभवनाथ बिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्री ष० (ख) ग० श्री जिनसागरसूरिपट्टे श्रीजिनसुन्दरसूरिभिः

पूरनचंद नाहर- संपा०, **जैनलेखसंग्रह**, भाग-१, लेखांक ४८०.

२- सं० १५२५ वर्षे वैशाख सुदि ७ दिने श्रीमालज्ञातौ घेउरीयागोत्रे सा० रामा पुत्र सा० रंजाकेन पुत्र षेता वील्हा कान्हायुतेन बृहत्पुत्र छड़ा पुण्यार्थ श्रीसुविधिनाथविव (बिंबं) कारितं प्रतिष्ठितं श्रीजिनसुन्दरसूरिभिः खरतर।

मुनि कांतिसागर, **शत्रुंजयवैभव**, लेखांक १८३.

वि०सं० १५०४ फाल्गुन सुदि ९ के चार प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक शुभशीलगणि के गुरु के रूप में भी जिनसागरसूरि का नाम मिलता है। श्री पूरनचंद नाहर ने इन लेखों की वाचना दी है।^{१८} इन लेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक मुनि की गुरु-परम्परा दी गयी है, जो इस प्रकार है:

जिनवर्धनसूरि
|
जिनसिंहसूरि
|
जिनसागरसूरि
|
शुभशीलगणि

जिनसागरसूरि के तीनों शिष्यों मुनिधर्मचन्द्र, जिनसुन्दरसूरि और शुभशीलगणि में से जिनसुन्दरसूरि उनके पट्टधर बने। जिनसुन्दरसूरि के दो शिष्यों जिनहर्षसूरि और जिनहंस के बारे में साहित्यिक और अभिलेखीय दोनों साक्ष्यों से जानकारी प्राप्त होती है।

वि०सं० १५१९ से वि०सं० १५६४ तक के ४३ प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक के रूप में जिनहर्षसूरि (आचार्य पद वि०सं० १५१७) का नाम मिलता है।^{१९} इनके द्वारा वि०सं० १५३७/ई०स० १४८१ में रचित **आरामशोभाकथा**^{२०} नामक एक कृति भी प्राप्त होती है।

वि०सं० १५२३ और वि०सं० १५५१ के प्रतिमालेखों में प्रतिमाप्रतिष्ठापक विजयचन्द्र और जिनचन्द्र भी जिनहर्षसूरि के ही शिष्य थे। यह बात उक्त प्रतिमालेखों से ज्ञात होती है।

इनमें से वि०सं० १५२३ में प्रतिष्ठापित प्रतिमा शीतलनाथ की है और आज पित्तलहर जिनालय, लूणवसही, आबू में संरक्षित है। मुनि जयन्तविजय^{२१} जी ने इसकी वाचना दी है, जो इस प्रकार है:

सं० १५२३ वर्षे वैशाष (ख) सुदि १३ गुरौ श्रीशीतलनाथबिंबं सा० सुदा
भा० श्रा० सुहवदेव्या का० प्र० श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनहर्षसूरिभिः विजयचन्द्रेण॥

वि०सं० १५५१ का लेख शांतिनाथ की धातु प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। मुनि कांतिसागर^{२२} ने इसकी वाचना निम्नानुसार दी है :

सं० १५५१ वर्षे वैशाख वदि २ सोमे उकेशवंशे करमदीयागोत्रे म० गणीया
भार्या लाली पुत्र मं० सहिजा भा० सहिजलदे पुत्र मं० मणोरादिसहितेन स्वश्रेयसे
श्रीशांतिनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनहरष (हर्ष) सूरिपट्टे श्री जिन प
(?भ) द्र सूरिभिः

श्री विनयसागर के अनुसार यहां (जिनचन्द्र) पाठ होना चाहिए न कि जिनभद्र, जैसा कि मुनि कांतिसागर का मत है।

जिनहर्षसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय' (आचार्य पद वि०सं० १५४४) हुए।^{२३} वि०सं० १५६७ और वि०सं० १५७७ के तीन प्रतिमालेखों में प्रतिमा प्रतिष्ठापक के रूप में इनका नाम मिलता है।^{२४} इनके समय में वि०सं० १५५६/ई० सन् १५०० में वाचक विवेकसिंह गणि की परम्परा के धर्मसमुद्र ने **सूक्ष्मजातकशास्त्र** की प्रतिलिपि की, जिसकी प्रशस्ति^{२५} में उन्होंने जिनवर्धनसूरि से लेकर जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय' तक की गुरु-परम्परा दी है जो इस प्रकार है:

जिनवर्धनसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'प्रथम'
|
जिनसागरसूरि
|
जिनसुन्दरसूरि
|
जिनहर्षसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय' (इनके नायकत्वकाल में
वि०सं० १५५६/ई० स०
१५०० में मुनि धर्मसमुद्र
द्वारा **सूक्ष्मजातकशास्त्र** की
प्रतिलिपि की गयी)

जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय', विवेकसिंहगणि और धर्मसमुद्रगणि में परस्पर क्या सम्बन्ध था, यह बात उक्त प्रशस्ति से ज्ञात नहीं होती। धर्मसमुद्रगणि द्वारा रचित **सुमित्रकुमारारास** (रचनाकाल वि०सं० १५६७/ई० सन् १५११, **प्रभाकरगुणाकरचौपाई** (वि०सं० १५७३/ई०सं० १५१७, **कुलध्वजकुमारारास** (वि०सं० १५८४/ई० स० १५२८, **शकुन्तलारास**, **सुदर्शनारास**, **अवन्तिसुकुमालसंज्ञाय**, **रात्रिभोजनचौपाई** आदि कई कृतियां प्राप्त होती हैं।^{२६} **सुमित्रकुमारारास** की प्रशस्ति^{२७} में इन्होंने स्वयं को जिनचन्द्रसूरि का प्रशिष्य और विवेकसिंहगणि का शिष्य बतलाया है:

तासु पट्टि गुरु संपइ सोहई, श्रीजिनचंद्रसूरि जग मोहइ, दोहग नासइ नाभि।
वाचक विवेकसंघ लघु सीस, प्रभणइ श्रीधर्मसमुद्र गणीस, आणी बुद्धि वि छंद।
संवत पन्नरहसि सतसठइ, जालउर नयर पास संतुठइ, कीऊं कवित आणंदइ।

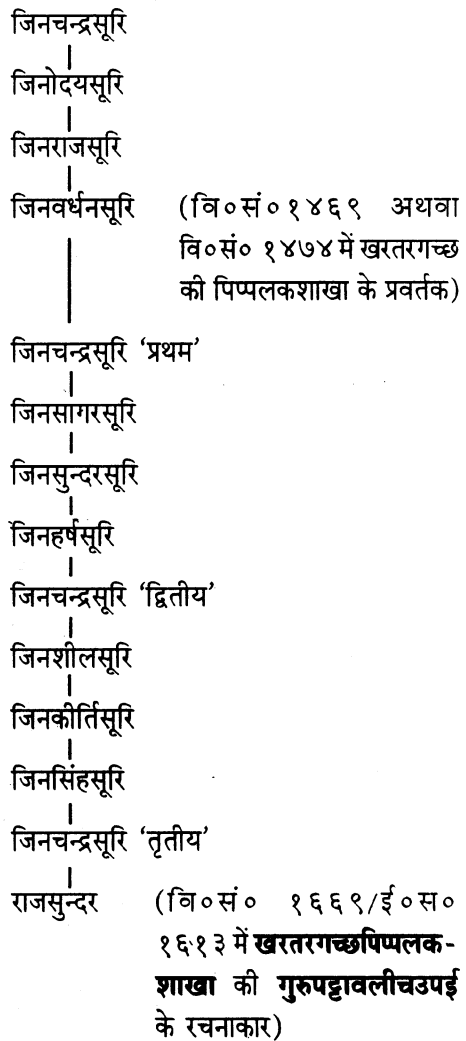
आरामशोभाकथा (वि०सं० की १६वीं शती का तृतीयचरण लगभग) के रचनाकार मलयहंस भी जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय' के ही शिष्य थे।^{२८}

जिनचन्द्रसूरि 'द्वितीय' के पट्टधर जिनशीलसूरि (आचार्य पद वि०सं०

१५८९) हुए। इनके द्वारा रचित कोई कृति नहीं मिलती। ठीक यही बात इनके शिष्य जिनकीर्ति (आचार्य पद वि०सं० १५९६), प्रशिष्य जिनसिंहसूरि (आचार्य पद वि०सं० १६०९) आदि के बारे में भी कही जा सकती है। जिनसिंहसूरि के पट्टधर जिनचन्द्रसूरि 'तृतीय' (आचार्य पद वि०सं० १६३१) हुए, जो वि० सं० १६६९/ई०स० १६१३ तक विद्यमान थे।^{२९} जिनसिंहसूरि के एक अन्य शिष्य गुणलाभ हुए जिन्होंने वि०सं० १६५७ में **जीभरसाल** नामक कृति की रचना की।^{३०}

जिनचन्द्रसूरि 'तृतीय' के पट्टधर जिनरत्नसूरि (आचार्य पद वि०सं० १६८२) हुए। इनके गुरुभ्राता राजसुन्दर ने वि०सं० १६६९/ई०स० १६१३ में **खरतरगच्छपिप्पलकशाखा** की **गुरुपट्टावलीचउपड़**^{३१} की रचना की। इसमें उन्होंने उद्योतनसूरि से लेकर अपने गुरु जिनचन्द्रसूरि 'तृतीय' तक की परम्परा दी है, जो निम्नानुसार है :

उद्योतनसूरि
|
वर्धमानसूरि
|
जिनेश्वरसूरि,
|
जिनचन्द्रसूरि
|
अभयदेवसूरि
|
जिनवल्लभसूरि
|
जिनदत्तसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
जिनपतिसूरि
|
जिनेश्वरसूरि
|
जिनप्रबोधसूरि
|
जिनचन्द्रसूरि
|
जिनकुशलसूरि
|
जिनपद्मसूरि
|
जिनलब्धिसूरि



उक्त पट्टावली में उल्लिखित पिप्पलकशाखा के मुनिजनों का जो क्रम ऊपर दिया गया है उसका इस शाखा से सम्बद्ध ग्रन्थप्रशस्तियों एवं अभिलेखीय साक्ष्यों से भी समर्थन होने से पिप्पलकशाखा की एकमात्र उपलब्ध इस पट्टावली की प्रामाणिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है।

आचार्य जिनरत्नसूरि के पट्टधर जिनवर्धमानसूरि (आचार्य पद वि०सं० १६८९) हुए। जिन्होंने वि०सं० १७१०/ई०स० १६५४ में धन्नाऋषिचौपाई^{३२} की रचना की। इसकी प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा की लम्बी गुर्वावली न देते हुए केवल शाखाप्रवर्तक जिनवर्धनसूरि तथा अपने प्रगुरु जिनचन्द्रसूरि एवं गुरु

जिनरत्नसूरि का ही उल्लेख किया है-

जिनवर्धनसूरि



जिनसिंहसूरि



जिनरत्नसूरि



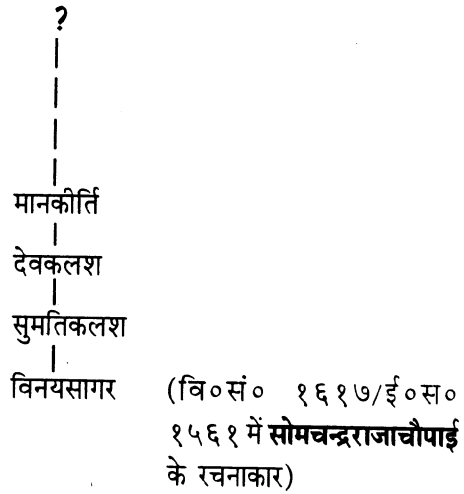
जिनवर्धमानसूरि (वि०सं० १७१०/ई०सं०
१६५४ में **धन्नात्रृषिचौपाई**
के रचनाकार)

जिनवर्धमानसूरि के पट्टधर जिनधर्मसूरि (आचार्य पद वि०सं० १७५७) हुए। वि०सं० १७९५/ई० सन् १७३९ में रचित **शिवचन्द्रसूरिरास**^{३३} से ज्ञात होता है कि वि०सं० १७७६/ई०सं० १७२० में उदयपुर में इनका देहान्त हुआ, तत्पश्चात् इनके शिष्य जिनशिवचन्द्रसूरि (आचार्य पद वि०सं० १७८६) पिप्पलकशाखा के नायक बने। इन्होंने शत्रुञ्जय, गिरनार तथा पूर्व भारत के विभिन्न तीर्थस्थानों की यात्रायें कीं। शाह लाधा द्वारा रचित उक्त **श्रीजिनशिवचन्द्रसूरिरास** से इनके बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।^{३४} वि०सं० १७९४ में ये खम्भात पधारे। किसी विधर्मी व्यक्ति के कहने से वहां के यवन शासक ने धन प्राप्त करने के उद्देश्य से इन्हें कठोर शारीरिक वेदना पहुंचायी, जिससे असमय में ही इनकी मृत्यु हो गयी और इसके साथ ही साथ पिप्पलकशाखा का अस्तित्व भी सदैव के लिये समाप्त हो गया।

उक्त साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर इस शाखा के मुनिजनों के गुरु-शिष्य परम्परा की एक तालिका का पुनर्गठन किया जा सकता है, जो इस प्रकार है—

दृष्टव्य-तालिका क्रमांक-१

वि०सं० १६१७ में **सोमचन्द्रराजाचौपाई** के रचनाकार मुनि विनयसागर^{३५} भी पिप्पलकशाखा से ही सम्बद्ध थे। उक्त कृति की प्रशस्ति में उन्होंने अपनी गुरु-परम्परा दी है, जो इस प्रकार है—

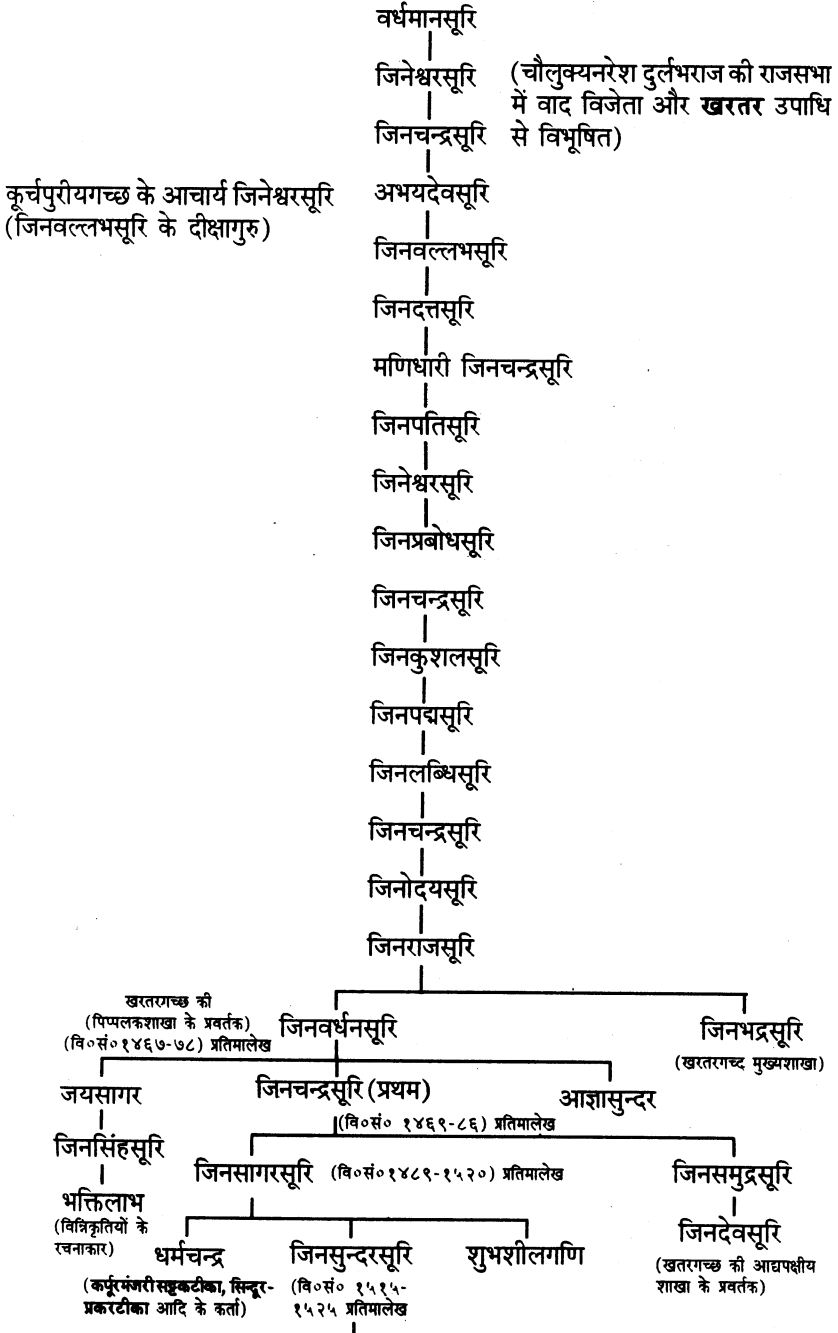


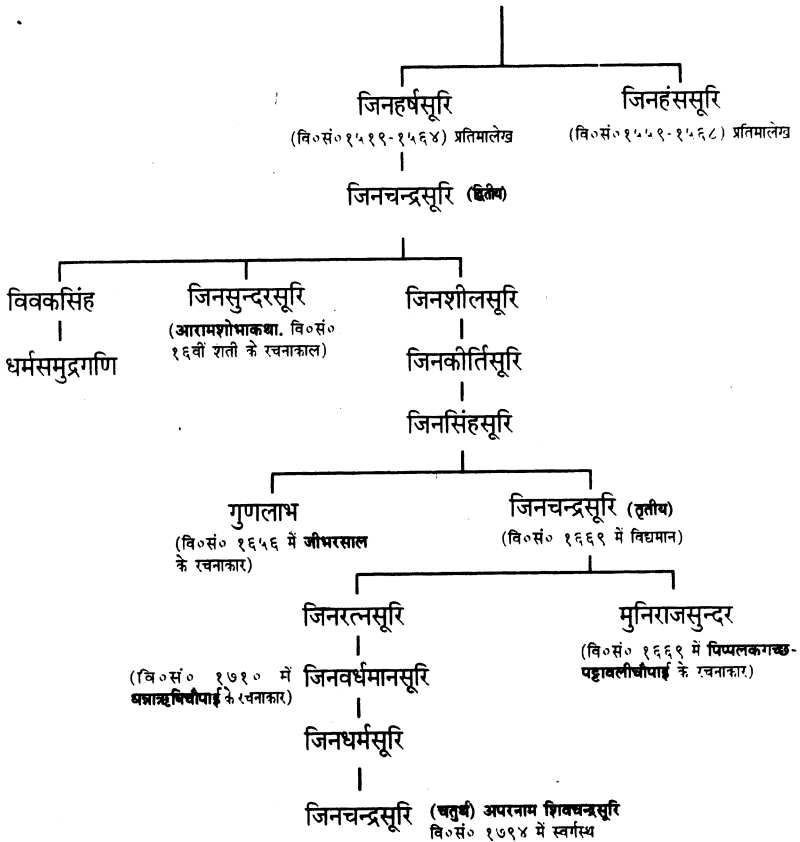
मुनि विनयसागर द्वारा रचित **चित्रसेनपद्मावतीरास राक्षसकाव्यटीका**, **राधवपाण्डवीयकाव्य**, **विदग्धमुखमंडनटीका**, **प्रश्नप्रबोध काव्यालंकार स्वोपज्ञटीकासह**, **भक्तामरटीका**, **कल्याणमन्दिरटीका** आदि कृतियां भी प्राप्त होती हैं।^{३६}

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित पिप्पलकशाखा के मुनिजनों के गुरु-शिष्य परम्परा की पूर्वोक्त तालिका एवं **सोमचन्द्रराजाचौपाई** में प्रशस्तिगत पिप्पलकशाखा के मुनिजनों के बीच क्या सम्बन्ध रहा, यह ज्ञात नहीं होता। ठीक यही बात धर्मचन्द्र के शिष्य मतिनन्दन (वि०सं० १६वीं शती में **धर्मविलास**^{३७} के कर्ता); जिनसिंहसूरि के प्रशिष्य और लब्धिचन्द्र के शिष्य शिवचन्द्र (**विदाधमुखमण्डनसुबोधिका**^{३८} के रचनाकार); दयासागर के शिष्य उदयसमुद्र (वि०सं० १६१९/ई० सन् १५५३ में **मदननरिंदचरित**^{३९} के रचनाकार); हंसराज (वि०सं० १७वीं शती में **ज्ञानबावनी** एवं **द्रव्यसंग्रहबालावबोध** के रचनाकार) आदि के बारे में भी कही जा सकती है।

क्षेत्रसमासप्रकरणबालावबोध (रचनाकाल वि०सं० १६५६), **लोकनालवार्तिक**^{३९अ} (वि०सं० १७वीं शती), **वाग्भट्टालंकारटीका** (वि०सं० १७वीं शती) आदि के रचनाकार साधुधर्म के प्रशिष्य और सहजरत्न के शिष्य उदयसागर^{४०}, **कुलध्वजकुमाररास**^{४१} के कर्ता और कमलहर्ष के शिष्य उदयसमुद्र, **जयसेनचरित्र**^{४२} (वि०सं० १८वीं शती) के रचनाकार और विवेकरत्नसूरि के शिष्य रत्नलाभ, **कर्मविपाक**, **कर्मस्तव** आदि के रचनाकार और उदयसागर के प्रशिष्य तथा जयकीर्ति के शिष्य सुमतिसूरि^{४३} भी खरतरगच्छ की पिप्पलकशाखा से ही सम्बद्ध रहे किन्तु तालिका संख्या १ में प्रदर्शित पिप्पलकशाखा के मुनिजनों से उक्त रचनाकारों का क्या सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं होता।

साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर निर्मित खरतरगच्छ-
पिप्पलकशाखा के मुनिजनों की गुरु-शिष्य परम्परा की तालिका-१





वि०सं० की १८वीं शती के पश्चात् इस शाखा से सम्बद्ध प्रमाणों के अभाव को देखते हुए यह माना जा सकता है कि इस समय के पश्चात् इस शाखा का महत्त्व समाप्त हो गया और इसके अनुयायी खरतरगच्छ की किन्हीं अन्य शाखाओं से सम्बद्ध हो गये होंगे।

प्रस्तुत आलेख के लेखन एवं संशोधन में स्वनामधन्य श्री भँवरलाल जी नाहटा एवं महो० विनयसागरजी का उदार सहयोग प्राप्त हुआ है, जिसके लिये लेखक उनका हृदय से आभारी है।

संदर्भ

१. अगरचन्द्र नाहटा, "श्वेताम्बर श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश", यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, संपा०, पं० लालचंद भगवानदास गांधी, आहोर १९५८ ई०स०, पृष्ठ-१४६.

मणिधारी जिनचन्द्रसूरि काव्यांजलि, रचयिता पं० बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम लघु प्रकाशन : ३, वाराणसी १९८० ई०, प्रस्तावना (लेखक-महो० विनयसागर) पृष्ठ-११.

.....अथ जिनवर्धनसूरयो अथ जिनवर्धनसूरयो व्यंतरप्रयोगेण ग्रथिणीभूताः संतः पिप्पलग्रामे गत्वा स्थिताः, कियंतः शिष्याः पार्श्वे स्थितवंतः।

मुनि जिनविजय, संपा०, **खरतरगच्छपट्टावलीसंग्रह**, कलकत्ता १९३२ ई०, पृष्ठ-३२.

इसी संग्रह में प्रकाशित खरतरगच्छ की एक अन्य पट्टावली में भी इसी प्रकार की सूचना है। द्रष्टव्य- पृष्ठ-५५.

अगरचन्द भँवरलाल नाहटा, संपा०, **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, श्री अभय जैन ग्रन्थमाला, पुष्प ८, कलकत्ता वि०सं० १९९४, पृष्ठ-३१९-२०.

H.D. Velankar, Ed. *Jinaratnakosha*, Poona 1944 A.D., P-415.

Ibid, P-347

मोहनलाल दलीचंद देसाई, **जैनगूर्जरकविओ**, भाग १, नवीन संस्करण, संपा० डॉ० जयन्त कोठारी, अहमदाबाद १९८६ ई०स०, पृष्ठ-४४८-४४९.

पूरनचंद नाहर, संपा०, **जैनलेखसंग्रह**, भाग ३, लेखांक २४३२.

मुनि विद्याविजय, संपा०, **प्राचीनलेखसंग्रह**, लेखांक १०४.

मणिधारीजिनचन्द्रसूरिकाव्यांजलि, प्रस्तावना, पृष्ठ-१५-२०.

मुनि विद्याविजय, पूर्वोक्त, लेखांक १३८-१३९.

एवं

विनयसागर, संपा०, **प्रतिष्ठालेखसंग्रह**, कोटा १९५३ ई०स०, लेखांक २५८.

विनयसागर, वही, लेखांक २५८.

जैनगूर्जरकविओ, नवीन संस्करण, भाग-१, पृष्ठ-४३९-४०.

प्राचीनलेखसंग्रह, लेखांक १५१, १५२, १५३, १६३, १६५, १६८, १७०, २८६.

प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक ३१२, ३१३, ३३५, ३४०.

मुनि बुद्धिसागर, संपा०, **जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह**, भाग १, पादरा १९२४ ई०स०, लेखांक ५२६, ११०४, ११८०.

मुनि कांतिसागर, संपा०, **जैनधातुप्रतिमालेख**, प्रथम भाग, श्रीजिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड, ग्रन्थांक ६०, सूरत १९५० ई०स०, लेखांक

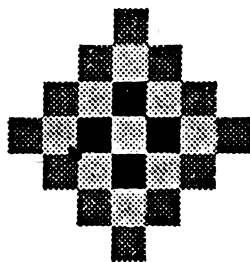
- ९३, १०२, ३०२.
मुनि जयन्तविजय, संपा०, **अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह**, लेखांक १८८.
मुनि कांतिसागर, संपा० **शत्रुंजयवैभव**, कुशल पुष्प ४, जयपुर १९९० ई०स०, लेखांक ७६, ९१.
१४. मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, लेखांक १८८.
१५. **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, पृष्ठ-८१.
१६. *Jinaratnakosha*, P-442.
१७. महो० विनयसागर, **खरतरगच्छीयसाहित्यसूची**, पृष्ठ-२१.
१८. पूरनचन्द नाहर, **जैनलेखसंग्रह**, भाग १, लेखांक १७१, २३९, २५६, २७०.
१९. वही, भाग १, लेखांक १९, ४८, ५२, १५४, १६१, २१६, २८१, २८४, ४१८, ४२३, ६५०, ६६२;
वही, भाग २, लेखांक ११५७; भाग ३, लेखांक २१२८, २४२१.
प्राचीनलेखसंग्रह, लेखांक ३६४, ४७९.
प्रतिष्ठालेखसंग्रह, लेखांक ५९६, ५९७, ६१३, ६२८, ७३४, ७३९, ७९९, ८५२, ८८०, ८९४, ९२०.
जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ७७, ११५९;
भाग २, लेखांक १४८, १९७, ३१३, ४१०, ४२२, ४४३, ४८७, ६०५, ६९०, ७०७, ७१९, ९८५.
शत्रुंजयवैभव, लेखांक २१५, २३१.
२०. *Jinaratnakosha*, P. 33.
२१. **मुनिजयन्तविजय**, पूर्वोक्त, लेखांक ४१५.
२२. **जैनधातुप्रतिमालेख**, लेखांक २५८.
२३. **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, पृष्ठ-७६.
२४. **प्रतिष्ठालेखसंग्रह**, लेखांक ९३५, ९६५.
जैनलेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ५६७.
२५. A.P. Shah, Ed., *Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts: Muni Punyavijayaji's Collection, Part ?L.D. Series No. Ahmedabad 196 A. D. PP. 448-49, No. 2727.*
- २६-२७. **जैनगूर्जरकविओ**, नवीन संस्करण, भाग १, पृष्ठ-२३९ और आगे.
२८. **साहित्यसूची**, पृष्ठ-२६.
२९. **ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह**, पृष्ठ-७६.
३०. **साहित्यसूची**, पृष्ठ-६५.

३१. ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह, पृष्ठ-३१९-२०.
 ३२. जैनगूर्जरकविओ, भाग ४, पृष्ठ-१६९-७०.
 ३३-३४. ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह, पृष्ठ-३२१-३३२.
 ३५-३६. जैनगूर्जरकविओ, भाग ४, पृष्ठ-९१.
 साहित्यसूची, पृष्ठ-२४, ४६.
 ३७. वही, पृष्ठ-१६.
 ३८. वही, पृष्ठ-३६.
 ३९-३९अ. वही, पृष्ठ-१०
 ४०. वही, पृष्ठ-८, ३६.
 ४१. वही, पृष्ठ-४४;
 जैनगूर्जर कविओ, भाग ४, पृष्ठ-४२५.
 ४२. साहित्यसूची, पृष्ठ-२७.
 ४३. वही, पृष्ठ-८.



हम समाज को जोड़ेंगे, हमने यह व्रत धारा है,
जैन एकता और समन्वय, यही हमारा नारा है।

“दृष्टांत उपदेश से अधिक कीमती होता है।”



शुभकामनाओं सहित,

किशोरचन्द्र एम. वर्धन

मै. वर्धमान बिल्डर्स

222-ए, कॉमर्स हाऊस,
नगीनदास मास्टर रोड, फोर्ट, मुंबई - 400 023

© ऑफिस : 2675620, 2672425

निवास : 4952409, 4936167



कीर्तिकौमुदी में प्रयुक्त छन्द

डॉ० अशोक कुमार सिंह*

सोमेश्वरदेव (१३वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) कृत 'कीर्तिकौमुदी' का ऐतिहासिक महाकाव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुजरात के बघेल राजवंश के राणक लवण प्रसाद और वीरधवल के पुरोहित सोमेश्वरदेव और चालुक्य राजा भीमदेव के अमात्य बन्धु वस्तुपाल-तेजपाल में प्रगाढ़ मित्रता थी। वस्तुपाल के अपने प्रति सौहार्द, उसके अप्रतिम पराक्रम, साहित्यिक प्रतिभा तथा यश से अभिभूत सोमेश्वर ने वस्तुपाल के गुणों की प्रशस्तिरूप **कीर्तिकौमुदी** नामक काव्य सहित, कई प्रशस्तियों की रचना की। सोमेश्वरदेव उच्चकोटि के प्रतिभाशाली कवि थे, **कीर्तिकौमुदी** उनकी उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है। इसमें प्रतिपाद्य तथ्यों का भी विशेष महत्त्व है क्योंकि इसका नायक काव्य प्रणेता का समकालीन है, चिरपरिचित है, प्रगाढ़ मित्र है। कवि और काव्य नायक के समकालीन होने से इस कृति की ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिकता बढ़ जाती है।

कीर्तिकौमुदी में नौ सर्ग हैं और इसके श्लोकों की संख्या ७२२ है। इसके सर्गों का नाम क्रमशः नगरवर्णन, नरेन्द्रवंशवर्णन, मन्त्रप्रतिष्ठा, दूतसमागम, युद्धवर्णन, पुरप्रमोदवर्णन, चन्द्रोदयवर्णन, परमार्थविचार और यात्रासमागमन है।

सर्गानुसार **कीर्तिकौमुदी** में प्रयुक्त छन्दों का लक्षण सहित विवेचन इस प्रकार है। प्रथम सर्ग **नगरवर्णन** में ८१ श्लोक हैं। इसमें आरम्भ के ७६ श्लोकों में अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसके बाद ७७ से ८१ तक क्रमशः उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, पुष्पिताया, शालिनी तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द प्रयुक्त हुए हैं। इन छन्दों का लक्षण एवं **कीर्तिकौमुदी** के अनुसार उदाहरण निम्नवत् है-

अनुष्टुम्^१

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चम ।

द्विचतुःपादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

अर्थात् अनुष्टुम् में आठ वर्ण वाले चार चरण होते हैं। इसके अनेक प्रकार होते हैं। अनुष्टुम् के प्रत्येक चरण का पञ्चम वर्ण लघु और षष्ठ गुरु होता है। प्रथम और

* वरिष्ठ प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

८४ श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

तृतीय चरण का सप्तम वर्ण गुरु और द्वितीय और चतुर्थ चरण का लघु होता है। शेष वर्ण या तो लघु या गुरु होते हैं।

उदाहरण^३

श्रिये सन्तु सतामेते, चिरं चातुर्भुजा भुजाः ।
यामिका इव धर्मस्य, चत्वारः स्फुरदायुधाः ॥१॥
हरप्रासादसन्दोहमनोहरमिदं सरः ।
राजते नगरं तच्च, राजहंसैरलङ्कृताम् ॥७६॥

उपेन्द्रवज्रा^४ (उपेन्द्रवज्राजतजास्ततो गौ) इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण, तगण और जगण के पश्चात् दो गुरु होते हैं।

उदाहरण^५

सशङ्खचक्रः प्रथितप्रभूतावतारशाली कमलाभिरामः ।
स एष कासारशिरोवतंसः कंसप्रहर्तुः प्रतिमां विभर्ति ॥७७॥

उपजाति^६ - (अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ। पादौ यदीयावुपजातयस्ताः॥) अर्थात् जिसमें इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का लक्षण मिला हो, उसका नाम उपजाति छन्द है। इन्द्रवज्रा छन्द का लक्षण होता है- “स्यादिन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ” अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में दो तगण, एक जगण और दो गुरु हों तो उसको इन्द्रवज्रा कहते हैं।

उदाहरण^७

उपेन्द्रवज्रा	इन्द्रवज्रा
न मानसे माद्यति मानसं में,	पम्पा सम्पादयति प्रमोदम्।
अच्छोदमच्छोइन्द्रवज्रादकमध्यसारं,	सरोवरे राजति सिद्धभर्तुः॥७८॥
इन्द्रवज्रा	उपेन्द्रवज्रा

इस श्लोक में प्रथम और चतुर्थ चरण उपेन्द्रवज्रा में होने और द्वितीय और तृतीय चरण इन्द्रवज्रा में होने से इसमें उपजाति छन्द है।

पुष्पिताग्रा^८ - (अयुजिनयुगरेफतो यकारो। युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा॥)

यदि विषम पादों में दो नगणों से परे एक रगण, एक यगण हो और सम पादों में एक नगण, दो जगण, एक रगण और अन्त में एक गुरु हो तो वह छन्द पुष्पिताग्रा कहा जाता है। जैसे-

प्रतितटघटितोर्मिघातजातप्रसृमरफेनकदम्बकच्छलेन।

हेरहसितसितद्युतिं स्वकीर्तिं, दिशि दिशि कन्दलयत्ययं तडागः॥७९॥

मालिनी^{१०} - (ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः।)

जिसके चारों चरणों में क्रमशः नगण, नगण, मगण, यगण, यगण हों तथा आठ और सात अक्षरों में यति हो, उसको मालिनी छन्द कहते हैं। यथा^{११}

अलघुलहरिलिप्त व्योमभागे तडागे,

तरलतुहिनपिण्डापाण्डुडिण्डीरदम्भात्।

तरुणतरणितापव्यापदापन्नमुच्चैरिह,

विहरति ताराचक्रवालं विशालम्॥८०॥

शार्दूलविक्रीडित^{१२} - (सूर्याश्वैर्मसजस्तातः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्॥

अर्थात् जिसमें मगण, सगण, जगण, सगण और दो तगण तथा अन्त में एक गुरु हो और बारह, सात पर यति हो तो वहाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द होता है।^{१३} जैसे—

एकत्र स्फुटदब्जराजजिरजस बभ्रुकृतः सुभ्रुवां,

प्रभ्रश्यत्कुचकुम्भकुमरसैरन्यत्र रक्तीकृतः।

अन्यत्र स्मितनीलनीरजलदलच्छायेन नीलीकृतः,

श्रेयः सिन्धुरवर्णकम्बलधुरां धत्ते सरःशेखरः॥८१॥

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण में- राजजिरजसा के स्थान पर राजिरजसा पाठ होना चाहिए। 'ज' से छन्द भङ्ग होता है और अर्थ में भी बाधा आती है।

द्वितीय सर्ग "नरेन्द्रवंशवर्णन" में ११५ श्लोक हैं। इसके प्रारम्भ के ८१ श्लोक अनुष्टुभ् में, अठारह श्लोक (८२ से ९९) उपजाति में, तीन (१०० से १०२) इन्द्रवज्रा में, बारह (१०३ - ११४) वसन्ततिलका में और अन्तिम ११५वाँ श्लोक मालिनी छन्द में है।

इस सर्ग में प्रयुक्त छन्दों में से वसन्ततिलका छन्द को छोड़कर दूसरे छन्दों का लक्षण प्रथम सर्ग के विवरण में दिया गया है। इसका लक्षण एवं कीर्तिकौमुदी के अनुसार उदाहरण निम्नवत है-

वसन्ततिलक^{१४} - (ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः।)

जिसके चारों चरणों में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु वर्ण हों उसको वसन्ततिलका छन्द कहते हैं। जैसे—

मुण्डेव खण्डितनिरन्तरवृक्षखण्डा,
निष्कुण्डलेव दलितोज्ज्वलवृत्तवप्रा॥
दूरादपास्तविषया विधवेव दैन्यमभ्येति,
गूर्जरधराधिपराजधानी॥१०४॥

मन्त्रप्रतिष्ठा नामक तृतीय सर्ग में श्लोकों की संख्या ७९ है। इस सर्ग में प्रथम ५० श्लोक अनुष्टुभ् में निबद्ध हैं। इसके बाद २१३ श्लोक (५१ से ७३) रथोद्धता में, दो (७४-७५) शालिनी में, श्लोक संख्या ७६ वंशस्थ में, ७७ शिखरिणी में, ७८ मालिनी में और अन्तिम ७९ पुष्पिताया में निबद्ध है।

ऊपर प्रयुक्त छन्दों में से अनुष्टुभ्, मालिनी और पुष्पिताया का परिचय पूर्व पृष्ठों में दिया जा चुका है। अन्य प्रयुक्त रथोद्धता, शालिनी, वंशस्थ और शिखरिणी का लक्षण तथा **कीर्तिकौमुदी** के अनुसार उदाहरण निम्नवत है-

रथोद्धता^{१६} - (रात्ररातिह रथोद्धता तगौ॥)

अर्थत् जिसमें रगण, नगण, रगण, एक लघु, एक गुरु हो तो उसका नाम रथोद्धता है। जैसे—^{१७}

यौवनेऽपि मदनान्न विक्रिया, नो धनेऽपि विनयव्यतिक्रमः ।
दुर्जनेऽपि न मनागनार्जवं, केन वामिति नवाकृतिः कृता ॥६१॥

शालिनी^{१८} (शालिन्युक्ता म्त्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः॥)

अर्थात् इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, दो तगण औरदो गुरु होते हैं। इसकी यति चार सात वर्णों पर होती है। **उदाहरण**^{१९}

दृष्टिर्नष्टा भूपतीना तमोभिस्ते लोभान्धान् साम्प्रतं कुर्वतेऽग्रे ।
यैर्नीयन्ते वर्त्मना तेन यत्र, भ्रश्यन्त्याशु व्याकुलास्तेऽपि तेऽपि ॥७५॥

वंशस्थ^{२०} - (जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ॥)

अर्थात् वंशस्थके चारों चरणों में से प्रत्येक में जगण, तगण, जगण और रगणहोते हैं।

उदाहरण^{२१}

न सर्वथा कश्चन लोभवर्जितः, करोति सेवामनुवासरं विभोः।
तथापि कार्यः स तथा मनीषिभिः। परत्र बाधा न याथाऽत्र वाच्यता॥७६॥

शिखरिणी^{२२} - (रसैरुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी॥)

अर्थात् जिसमें क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, और भगण, अन्त में क्रमशः एक लघु और एक गुरु हो तो उस छन्द को शिखरिणी कहते हैं- **उदाहरण**^{२३}

पुरस्कृत्य न्यायं खलजनमनादृत्य सहजा-

नरीन् निर्जित्य श्रीपतिचरितमाश्रित्य च यदि।

समुद्धर्तुं धात्रीमभिलषसि तत् सैष शिरसा,

धृतो देवादेशः स्फुटमपरथा स्वस्ति भवते॥७७॥

चतुर्थ सर्ग **दूतसमागम** में ९१ श्लोक हैं, जिनमें से प्रथम ४१ श्लोक अनुष्टुभ् में, ४७ श्लोक (४२-८८) उपपूर्वा में श्लोक संख्या ८९ वसन्ततिलका में, ९० शर्दूलविक्रीडित में और ९१ पुष्पिताग्रा में निबद्ध है।

प्रसरत्यथ मत्सरप्रबन्धे द्रुतमेकेन रणोल्बणं कृपाणाम्।

अपरेण सुतं करेण वीरं, सहसा संयति यान्तमेष दध्ने॥५४॥

जगति ज्वलिताखिलप्रदेशः, प्रचुरीभूतमलिम्लुचप्रचारः।

स परस्परविग्रहो ग्रहणमिव तेषामभवन्नरेश्वराणाम्॥६१॥

युद्धवर्णन नामक पाँचवे सर्ग में ६८ श्लोक हैं। इसमें एक से ६२ तक श्लोक अनुष्टुभ् में, ६३ से ६७ तक वसन्ततिलका में तथा अन्तिम ६८वाँ श्लोक हरिणी छन्द में रचित है। सर्ग में प्रयुक्त नये छन्द हरिणी का लक्षण एवं **कीर्तिकौमुदी** का उक्त श्लोक निम्न है-

हरिणी^{२४} - (रसयुगहयैन्सौं भ्रौ स्तौ गो यदा हरिणी तदा॥)

अर्थात् जिसमें नगण, सगण, मगण, रगण, सगण, एक लघु और गुरु हो तो उस छन्द का नाम हरिणी होता है। **उदाहरण**^{२५}

प्रतिनृपतिभिर्भग्नोत्साहैर्निमग्नमिव क्वचित्,

स च नरपतिर्वीरस्तीरं जगाम मृधाम्बुधेः।

दिशि दिशि यशःस्तोमान् सोमान्वयी समचारय

च्चतुरकुरलीचाणक्योऽयं प्रियङ्करणैर्गुणैः॥६८॥

पु. प्रमोद वर्णन शीर्षक छठे सर्ग में ५६ श्लोक हैं। इस सर्ग में काव्य के प्रधान छन्द अनुष्टुभ् में कोई भी श्लोक निबद्ध नहीं है। सम्भवतः '**साहित्यदर्पण के कर्ता**'^{२६} आचार्य विश्वनाथ के इस मत के अनुरूप कि कोई सर्ग विविध वृत्तों से युक्त होना चाहिए अर्थात् प्रधान छन्द में निबद्ध होना चाहिए। इस सर्ग की विविध छन्दों में रचना है।

इस सर्ग में प्रथम ५५ श्लोक उपजाति में और अन्तिम ५६वाँ श्लोक प्रहर्षिणी में निबद्ध है। प्रहर्षिणी का लक्षण^{२७} एवं उदाहरण^{२८} इस प्रकार है-

प्रहर्षिणी - (मनौ ज्रौगस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्॥)

अर्थात् प्रहर्षिणी के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, नगण, जगण, रगण और एक गुरु होता है।

आशायामशिशिरधाम्नि पश्चिमायामायाते सुकृतवतामपश्चिमोऽसौ।

तान्कृत्वा धनकनकैः कवीन् कृतार्थानावासं स्वमभि चचाल वस्तुपालः॥५६॥

चन्द्रोदयवर्णन नामक सप्तम सर्ग में ८३ श्लोक हैं। जिसमें प्रारम्भ के ५३ श्लोक अनुष्टुभ् में हैं। ५४ से ५६ और ५९ से ७२ उपजाति में ५७, ५८ इन्द्रवज्रा में तथा ७६, ८० एवं ८१ पुष्पिताग्रा में रचित हैं। ८२, ८३ शार्दूलविक्रीडित छन्द में एवं ७३ वसन्तमालिका में, ७८ प्रहर्षिणी में तथा ७४ और ७९ द्रुतविलम्बित छन्द में रचित हैं।

इस ग्रन्थ में द्रुतविलम्बित छन्द का प्रयोग सप्तम सर्ग में ही पहली बार हुआ है। इसका लक्षण एवं **उदाहरण** इस प्रकार है-

द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।

अर्थात् इसके प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण, भगण, पुनः भगण और अन्त में एक रगण होता है। **उदाहरण**^{३०}

निगदितुं विधिनाऽपि न शक्यते, सुभटता कुचयोः कुटिलभ्रुवाम।

सुरतसंयति यौ प्रियपीडितावपि, नतिं न गतौ च्युतकञ्चुकौ॥७९॥

अष्टम **परमार्थविचार** नामक सर्ग में ७१ श्लोक हैं। इस सर्ग के आरम्भिक ५६ श्लोक अनुष्टुभ् छन्द में हैं। सर्ग के शेष श्लोकों में से बारह (५७-६८) पुष्पिताग्रा में, श्लोक ६९वाँ शालिनी में, ७०वाँ प्रहर्षिणी में और अन्तिम ७१वाँ शार्दूलविक्रीडित छन्द में रचित है।

कीर्तिकौमुदी के अन्तिम नवम सर्ग में ७८ श्लोक हैं। इसमें भी प्रस्तुत काव्य के प्रधान छन्द अनुष्टुभ् का प्रयोग नहीं हुआ है। इसमें अधिक संख्या में श्लोक उपजाति में निबद्ध हैं। उपजाति से भिन्न आठ श्लोक (क्र०सं० २, ४, १५, २०, २४, ४३, ४५, एवं ६५ इन्द्रवज्रा में तथा ७४ से ७६ वसन्ततिलका में और ग्रन्थ के अन्तिम दो श्लोक शार्दूलविक्रीडित छन्द में निबद्ध हैं।

इस प्रकार छन्द की दृष्टि से **कीर्तिकौमुदी** का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि इसमें अधिकतम श्लोक अनुष्टुभ् में प्रणीत हैं। संख्या की दृष्टि से अनुष्टुभ् के बाद का प्रिय छन्द रहा है- उपजाति। अनुष्टुभ् छन्द का अधिक प्रयोग इस तथ्य की ओर इङ्गित करता है कि सोमेश्वरदेव ने इसकृति को महाकाव्य का रूप देना चाहा है। महाकाव्य के लक्षण के रूप में प्रदत्त विश्वनाथ के निम्न दो श्लोक प्रासङ्गिक हैं-

एकवृत्तमयैः पद्यैवसानेऽन्यवृत्तकैः।

नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥३२०॥

नानावृत्तमयः ववापि सर्गः कचन दृश्यते।

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥३२१॥

उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार महाकाव्य की रचना प्रायः एक वृत्त-छन्द में होती है। सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द प्रयुक्त होते हैं। साथ ही कोई सर्ग ऐसा भी होता है जिसमें प्रधान छन्द से भिन्न विविध छन्दों का प्रयोग रहता है ऐसे सर्ग-विशेष में प्रधान छन्द के प्रयोग का अभाव रहता है। इस कसौटी पर **कीर्तिकौमुदी** के षष्ठ और नवम सर्ग खरे उतरते हैं। इन दोनों सर्गों में अनुष्टुभ् का प्रयोग नहीं हुआ है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सोमेश्वरदेव ने **कीर्तिकौमुदी** में छन्दों का प्रयोग एक निश्चित योजना के अनुसार किया है और वे सफल रहे हैं।

संदर्भ

१. सोमेश्वरदेव, **कीर्तिकौमुदी**, सं० मुनि पुण्यविजयजी, सिंधी जैन ग्रन्थमाला ३२, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९६१.
२. जी०के० भट्ट, **आन मीटर्स एण्ड फीगर्स आव स्पीच**, महाजन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद १९५३, पृ०-३.
३. **कीर्तिकौमुदी**, सिंधी, पृ०-३.
४. केदार भट्ट, **वृत्तरत्नाकर**, सं० नृसिंह देव शास्त्री, मेहरचन्द दास, दिल्ली-१९७१, पृ०-६१.
५. **कीर्तिकौमुदी**, सिंधी, पृ०-६.
६. **वृत्तरत्नाकर**, पृ०-६२.
७. **कीर्तिकौमुदी**, पृ०-६.
८. **वृत्तरत्नाकर**, पृ०-१२२.
९. **कीर्तिकौमुदी**, पृ०-६.
१०. **वृत्तरत्नाकर**, पृ०-९६.
११. **कीर्तिकौमुदी**, पृ०-६.
१२. **वृत्तरत्नाकर**, पृ०-१०६.

१० श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

१३. कीर्तिकौमुदी, पृ०-६.
१४. वृत्तरत्नाकर, पृ०-९२.
१५. कीर्तिकौमुदी, पृ०-११.
१६. वृत्तरत्नाकर, पृ०-६७.
१७. कीर्तिकौमुदी, पृ०-१५.
१८. वृत्तरत्नाकर, पृ०-६६.
१९. कीर्तिकौमुदी, पृ०-१६.
२०. वृत्तरत्नाकर, पृ०-७३.
२१. कीर्तिकौमुदी, पृ०-१६.
२२. वृत्तरत्नाकर, पृ०-९९.
२३. कीर्तिकौमुदी, पृ०-१६.
२४. वृत्तरत्नाकर, पृ०-१०२.
२५. कीर्तिकौमुदी, पृ०-२५.
२६. कविराज विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, पाण्डुरङ्ग जावजी निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
१९३६, पृ०-७७२.
२७. वृत्तरत्नाकर, पृ०-८८.
२८. कीर्तिकौमुदी, पृ०-२९.
२९. वृत्तरत्नाकर, पृ०-७५.
३०. कीर्तिकौमुदी, पृ०-३३.
३१. साहित्यदर्पण, पाण्डुरङ्ग, पृ०-३७२-३७३.





मुनिराज वन्दना बत्तीसी

डॉ० (श्रीमती) मुन्नी जैन*

हिन्दी साहित्य के विकास में जैन आचार्यों एवं श्रावकों का महत्वपूर्ण योगदान है। धर्म, अध्यात्म और सदाचार के उदात्त जीवनमूल्यों को जनमानस तक पहुँचाना जैनाचार्यों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने विशाल साहित्य का प्रणयन किया है। यद्यपि जैन साहित्य के प्रकाशन का उल्लेखनीय प्रयास हुआ है फिर भी अभी भी भारी मात्रा में जैन साहित्य शास्त्र भण्डारों में अप्रकाशित भरा पड़ा है तथा सम्पादन और प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इस अमूल्य धरोहर के संरक्षण, संवर्धन और प्रचार-प्रसार में सहभागी बनना हम सबका पुनीत कर्तव्य है। साथ ही इस प्रयास में शीघ्रता की भी आवश्यकता है अन्यथा इस अमूल्य साहित्य के नष्ट हो जाने पर हम सदा-सदा के लिए इससे वञ्चित रह जायेंगे।

जैनाचार्यों द्वारा स्वतन्त्र विषयों को आधार बनाकर छोटी-छोटी रचनाओं की परम्परा अति प्राचीन रही है। पदों की संख्या के आधार पर इस विधा की रचनाओं को प्रतिपाद्य विषय के साथ अष्टक, षोडशक, बीसी, पच्चीसी, बत्तीसी, छत्तीसी, तथा शतक अर्थात् सौ या इससे अधिक पद-शीर्षक प्रदान किया गया है।

प्रस्तुत बत्तीसी की पाण्डुलिपि पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के पुस्तकालय में सुरक्षित है। 'मुनिराज वन्दना बत्तीसी' यह शीर्षक हमने इसकी पद-संख्या और विषय-वस्तु के आधार पर इस कृति को प्रदान किया है। वस्तुतः इस पाण्डुलिपि के आरम्भ में 'अथ वैरागशतक लिख्यते' तथा अन्त में 'इति चिरञ्जीलाल कृत सवैया समाप्त' उल्लिखित है। परन्तु इसमें इसका शतक और सवैया दोनों ही रूपों में उल्लेख भ्रामक है। क्योंकि इसकी रचना मात्र बत्तीस पदों (११ दोहा + १६ सवैया + ३ कवित्त + २ सोरठा) में है। इसमें मुनिराज के गुणों और तपश्चर्या की वन्दना की गई है। अतः पद संख्या और प्रतिपाद्य के आधार पर इसका 'मुनिराज वन्दना बत्तीसी' शीर्षक सार्थक प्रतीत होता है।

इसके रचयिता कवि चिरञ्जीलाल ने प्रायः प्रत्येक पद की अन्तिम पंक्ति में अपना नामोल्लेख किया है। इनका समय एवं अन्य परिचय अन्यत्र भी उपलब्ध नहीं हो सका और न ही इनकी अन्य रचनाओं के होने के विषय में सङ्केत प्राप्त होते हैं, फिर भी प्रस्तुत

* अनेकान्त भवनम्, बी२३/४५-पी०-६, शारदानगर कालोनी, नवाबगंज मार्ग, वाराणसी-१०

बत्तीसी की भाषा के आधार पर इनका समय अठारहवीं-उन्नीसवीं शती के मध्य का प्रतीत होता है।

इस बत्तीसी के अधिकांश पदों पर मनहर छन्द का अत्यधिक प्रभाव है। अतः इसका गेय रूप सरस एवं मधुर है। इसकी भाषा पूर्णतया सरल हिन्दी है जो आधुनिक हिन्दी विकास-क्रम के द्वितीय चरण का प्रतिनिधित्व करती है।

इस कृति के प्रतिपाद्य का उल्लेख करने से पूर्व इसकी पाण्डुलिपि का परिचय देना समीचीन प्रतीत होता है। उक्त बत्तीसी की पाण्डुलिपि में मात्र ६ पत्र (१२ पृष्ठ) हैं, जिनके दोनों ओर लिखा गया है। प्रत्येक पत्र की लं० ८ इन्च चौ० ५ इन्च है। प्रत्येक पत्र में लगभग ८-११ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में लगभग १०-१२ शब्द हैं। अक्षर बिखरे-बिखरे तथा बड़े आकार में हैं। लिपि सुस्पष्ट एवं पठनीय है। प्रति के अन्तिम पत्र के एक ओर कवि ने रचना की समाप्ति कर दी है तथा उसके दूसरी ओर एक भजन लिखा है— जिसके अन्त में यह भूधरदास कृत होने का उल्लेख है। अभी तक के भूधरदास जी कृत भजनों में यह पद उपलब्ध नहीं है। अतः इस पाण्डुलिपि के साथ यह भजन भी प्रकाशन के लिए नई उपलब्धि स्वरूप है।

प्रस्तुत बत्तीसी में कवि ने मङ्गलाचरण के रूप में सर्वप्रथम प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ, चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर और साधु की स्तुति की है। इसके पश्चात् पञ्च महाव्रतों, पाँच समितियों, तीन गुप्तियों सहित मूलगुणों के धारक मुनियों की महिमा का वर्णन करते हुये ग्रीष्म, शीत और वर्षा ऋतुओं का सजीव चित्रण किया है। इन ऋतुओं में वनों में निवास करने वाले साधुओं की परिषह शक्ति एवं उनकी समता का चित्रण किया है गया। साधु के आहार-विहार-निहार आदि चर्याओं का सूक्ष्म प्रतिपादन करते हुये मुनि धर्म अर्थात् अणगार (श्रमण) चर्या की महिमा सिद्ध करते हुये उनकी वन्दना की है।

इस रचना के पहले मुनि चन्द्रभान विरचित 'अणगार वन्दना बत्तीसी' शीर्षक से एक अप्रकाशित पाण्डुलिपि को प्रथम बार 'श्रमण' के जनवरी-मार्च १९९७ के अङ्क में (पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी) प्रकाशित किया गया है। इसी शृंखला में यह द्वितीय रचना "मुनिराज वन्दना बत्तीसी" प्रकाशित की जा रही है।

इन दोनों रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि प्रथम प्रकाशित 'अणगारवन्दना बत्तीसी' श्वेताम्बर परम्परा से सम्बन्धित है और प्रस्तुत 'मुनिराज वन्दना बत्तीसी' दिगम्बर परम्परा से सम्बन्धित है जिसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

श्री आदिनाथाय नमः॥

अथ वैराग शतक लिख्यतै।

आदिनाथ स्तुति-(अरिलः)

आदि अंत गुणखान, आदि अवतार हो।
आदि धर्मकरतार नाभिराय कुल चंद हो।
अरि कर्म कौ नास, परम सुख धाम हो।
कहत चिरंजीलाल, जगत सिंगार हो॥१॥

महावीर स्तुति-(सवैया ३१)

तिसला जी के नंदन, जगत सब वंदन,
भर्म तिग्र नासबे को, खग^१ की समान है।
गर्भ ही आय नाथ, इन्द्र विचारि,
प्रभु सेव करो भारी, मोरो सुभ काज है।
तीन ही अवध धारि, बंदे सब नर-नारी
छप्पन्न कुमारि मिल, नृत्य ही करत हैं।
सिद्धार्थजी के नंद कुल, चंद अरिबिंद,
कहत चिरंजी नित, वंदना करत है॥२॥

साधु स्तुति-सवैया

एक ही स्वरूप जान, दूजे राग-द्वेष टाल,
तीजै तीन रत्न धार, चार ही कषाय परहारी है।
पंच महाव्रत धार, छह काया की प्रीत पाल,
सात ही जो नय जान, आठ मद हारि है।
नोइ बाड़ सील पाल, दस जति धर्म धार,
ग्यारह प्रतिमा को धार, बारा भावना उचारि है।
कहत चिरंजी लाल, करो भवदधि पार
अैसे अणगार ताको, वंदना हमारी है॥३॥
यह संसार ही असार जानते जो सब ग्रहभार आत्म अभ्यासी है।
दया दिल माहि धरै, झूठ ही ने परहरे
अदत्त नहीं लेत, सीलव्रत धारि है।
प्रग्र^२ सब दूर त्याग, गहो निज भेदज्ञान
जथा जिनलिंग धार, वन ही के वासि है।
कहत चिरंजीबाल, अैसे मुनिराज सार,

१. खगः = सूर्यः (संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश, आष्टे पृ० ३२१)

२. परिग्रह

मर्म सब हार दिढ, समगत धारि हैं॥४॥

दोहा-

पंच महाव्रत को धारे, पंच सुमति हिय धार
तीन गुप्ति गोपे सदा, सो साधु गुण धाम॥५॥

ध्यान की उत्कृष्टता- (सवैया)-

सुकल^१ ही ध्यान करे, कर्म सब दूर टले।
आतमा को काज करे, कर्म ही उटाय जु॥
सुकल ही लेस्या धारि, भये^२ व्रत मौन धारि।
लगि प्रभु प्रित^३ भारि, मन वच-काय जु॥
सात ही जो भय त्याग, जीवण की नाही आसा।
गहो निज सरूप ज्ञान, सिव सुख पाय जु॥
ध्यान माहि थिर^४ होय, भर्म की रिति ओया।
सिघ्र^५ ही सरूप जोय, मन थीर थाय जु॥६॥

ज्ञान की महिमा-

दोहा-

जो ज्ञान क्रिया हिय धारि, सो मूढन मुखिया सिरदारि^६
जो बिन पति अबला कहीय, त्यों विन ज्ञान क्रिया क्यो गहीय॥७॥

ज्ञान गम्य शिव प्राप्त फल कर्म कलंक नसाया।
शिवपदवी को वे बरें, जिनके हिरदे^७ ज्ञान॥८॥

सवैया-

ज्ञान ही तें मोख^८ होय, ज्ञान ही ते कर्म खोय
ज्ञान ही तें सुख पाय, ज्ञान ही ते पुंन-पाप जाने
ज्ञान ही ते आश्रव-संवर सो जानिये।
ज्ञान ही ते बंध मोख, ज्ञान ही ते सुख होत
ज्ञान ही ते सुर पद पाये।
कहत चिरंजी लाल, जगत में ज्ञानसार
याते भेद ज्ञान सब धर्म बीच लाये॥९॥

१. शुक्ल

३. प्रीत

५. शीघ्र

७. हृदय

२. मूल प्रति में भय

४. मूल पाठ-थीर= स्थिर (एकाग्र)

६. सरदार (प्रधान)

८. मोक्ष

पाँच समिति

कवित्त- १. ईर्या समिति-

निरख-निरख, पग धरत-धरत करुणा चित लावत।
तीन पैड भू चलत निरख, त्रिसकाय न सतावत ॥
बिक्षा^१ अर्थ नगर में आवत, जानत हार^२ सो प्रासुक खावत।
अैसे मुनीस नमूं नित सीश करो भवतीर सदासुख पावत ॥१०॥

सवैया- २. भाषा समिति

अैसे मुनी बोले बेन, सबन को सुख देन ।
नहीं तो धरत मौन, संबर बडाय जु॥
मन में विचार लेत, जब ही वचन कहत।
परजीव पीडा नहीं पायजु॥
हिंसा के वचन त्यागी, दया दिल मांहि जागि,
कर्म ही खपाय जु॥
भाषा ही सुमति^३ धारि, मुनिराज होय भारि
कहत चिरंजी सिर नाय जू॥११॥

दोहा- ३. एषणा समिति

छियालिस दोष^४ ही टाल, मुनिवर हार^५ जो लेत हैं।
बाईस अभख^६ निवार, प्रासुक हार मुनी ग्रहत हैं॥१२॥

सवैया- ४. आदान निक्षेपण समिति

जेणां दिल माहि घर, उपकरन लहे पास, जीव न हंणाय जू।

१. भिक्षा २. आहार ३. भाषा समिति

४. जैन आचार शास्त्रों में मुनि को आहार सम्बन्धी ४२ दोषों से बचकर आहार ग्रहण करने का विधान है। ये ४२ दोष इस प्रकार हैं- उद्रम के १६ दोष, + उत्पादन १६ दोष, + एषणा विषयक १० दोष + संयोजनादि ४ दोष = ४६ विस्तार से देखें-
मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, डॉ० फूलचंद जैन प्रेमी, पृ० २६९-२८०

५. आहार

६. बाईस अभक्ष्य (न खाने योग्य वस्तुएं इस प्रकार हैं)- ओला, धोखड़ा, निशिभोजन, बहुबीजक, बैंगन संधान

बड़, पीपल, ऊमर, कटूमर, पाकरफल जो होय अजाना॥

कन्दमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन, अरु मदिरापान ।

फल अति तुच्छ, तुषार चलित रस, जिनमत ये बाइस बखान ॥

-जिनेन्द्र सिद्धान्त प्रकाश, भाग-३, पृ० २०२

१६ श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

कार्य की सिद्ध कीनी, संजम में प्रीत दीनी, कर्म ही विलाय जू॥
अंतर की प्रगह^१ खोय.....जाणय जू^२।
कहत चिरंजी बाल, चोथि ही सुमति धार
आत्मा को कीनो ज्ञान, शिवपुर जाय जू॥१३॥

दोहा- ५. उच्चार प्रस्त्रवण समिति

सुध^३ जो भूमि देख के, उच्चारादिक^४ ज्ञाला
पासादिक मुनि जाहा करे, जाहा काया नाह ॥१४॥

सवैया- गृहत्याग

तज सब राज पाठ, त्यागे सब गृह बार,
नाक मल डारे जू।
त्यागे सब रतन हार, हीरा मोती और लाल,
दुखदाइ जाणय जू।
स्त्री और पुत्र-भ्रात-तात, मात सेती नेह त्याग,
प्रभू प्रीत धारे जू।
वन ही के माहि जाय, गुरू की जो आज्ञा पाय,
मुनि पदवी को धरें, जैसे बांझ पुत्र जू ॥१५॥

सवैया-

वन में ही वास करे, बिछूं सर्प आन लडे,
सिंघ गजराज भय, बहोत ही जो भारि है
पसु-पंखी जीव-जंतु, सब ही जो वन माहि
काल कि समान और, मासादिक हारि है।^५
ऐसो है बिहंग वन, जहां नहीं कछु गम्य
तन की मम त्याग, सिद्ध ही सरूप के विचारि है।
काओसग^६ ध्यान करे, सुभ कर्म की न चाह धारे
अशुभ को नसाय, एक केवल^७ की आस धारी है॥१६॥

१. परिग्रह

२. बीच के अक्षर अत्यंत अस्पष्ट होने के कारण पढ़ने में नहीं आये।

३. शुद्ध

४. मल त्याग (पाँचवीं समिति)

५. मांसाहारी पशु आदिक

६. कायोत्सर्ग

७. केवलज्ञान

शीलव्रत

काम महा-बलवान बडो सुर खैचर इंद्र सो चाक्र कारि।
नरिंद्र पति बलदेव सु चक्री, बसुदेव इत्यादिक बड़े बल धारि।
ओर जो पंखी-पसु^१ इत्यादिक सब ही को काम सतावत भारि।
सो ऋखिराज धरै न विबाद, करे व्रत सील सु सुंजम धारि॥१७॥

दोहा-

सील व्रत सब व्रत में, है मोटो सिरदार।
इसभव-परभव के बिषे संकट टालनहार॥१८॥

सवैया- षट्काय प्रतिपाल

सुकृत की खनी जानी, सब जीव सुखदानी
कुगति नसायबे को, पावक समान है।
सुरग के सुख करे, पद मा आय पाय पडै,
लोगन में जस करे, मोटो सुभ काज है,।
पृथ्वी-अप्प-तेज-वायु वनस्पति काय,
चर्तु जो बीसलाख, जिनराज जी बखानी है।
त्रस काय चार भेद ये न, को न हणै
जे ति मन-वच-काय जाने, आपकी समान है॥१९॥

दोहा-

जिनबानी को मूल है, षट्काया प्रतिपाल।
अनंत जीव मुक्ति गये, षट्काया हो नाथा॥२०॥

सवैया-

सिष^२ कहे गुरु सुनो, जीव ही न हणो जाय
मारो ही न मरे, काटो ही न कटाय है।
जीव ही अरूपी कहो, सजीव मारो जाय है।
गुरु कहे सिष सुनो, दस ही जो प्राण जान
पांचों इंद्री बेन और मन है।
काया ही जा बल प्राण, सास^३ आयु यवि जान
इनही को नास करे, सोइ प्राणातिपात^४ है॥२१॥

१. पशु-पक्षी

२. शिष्य,

३. जीवन आत्मा=श्वास

४. जीव हिंसा

कवित्त- गुरु महिमा

गुरु बिन ज्ञान, ज्ञान बिन संजम, संजम बिन मुनि पद नहीं आवत
मुनि पदवी बिन, कर्म न नासत, कर्म सहेत, शिव सुख नहीं पावत
शिव बिन चौरासी में डोलत, चौरासी में दुख अनंता,
जन्म जरा मृतु दुख ही पावत।
कहत चिरंजी गुरु बिन संगत, भर्म न जावत।
भर्म ही जीव को, जगत रूलावत। ॥२२॥

दोहा-

गुरु चिंतामणि रत्न है, जो मागे सो देत।
गुरु बिन सिष^१ कुजस लहे, माली बिन ज्यो खेत।।२३॥

सवैया-

आत्मा की शक्ति साधी, ज्ञान कला दूनी जागी
गुरु के प्रसंग सब, आकुलता जात है।।
सांची ही जा बात करे, झूठो पंथ परहरे
भैदज्ञान ही को पाय, जिनराज गुण गाय है।।
जिनलिंग मुद्रा धारि प्रग्रह^२ सब दुर हारि,
आत्मा की शक्ति भारि, सुकल ही ध्यान ध्यायो है
औसे अणीगार करो, भविदधि पार
कहत चिरंजी निरख, सीस ही झुकायो है।।२४॥

सवैया- नये की महत्ता

धर्म के धरनहार, आत्मा के सारे काज
भर्म तिग्र नासबे को, खग^३ की समान है।
नेचे और बिहारनय^४ ताके षट् शशिभेद
इनहों के ज्ञाता भय, नय प्रवन है।
नय वे ही जाने, सोइ समगित धारि,
नय को लगाय, सब वस्तु ही पछानी है।

१. शिष्य जैन धर्म स्याद्वाद, जामें हैं अनंत ज्ञान

२. परिग्रह

३. खग:= सूर्य: (संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश: आप्टे पृ० ३२१)

४. निश्चय और व्यवहार नया

वीतराग ज्ञान बिन, छोरों^१ की कहानी है॥२५॥

दोहा- यथार्थज्ञान

अध्यात्म ध्यान को जो, ग्रह होय यथार्थ ज्ञान।
मोक्षपंथ प्रघट करे, ज्ञान शक्ति हिय धार॥२६॥

अरिल:- शीलगुण सार

भोग भुजंग समान मुनि जानत हि नित प्रत,
भुजंग हरे इस भव प्राण, ये^२ भव-भव दुख देत हैं।
असे मन में बिचार, सील रतन मन आदरें।
सील ही के प्रताप, इंद्र-चंद्र-खग^३ वंदन करें॥२७॥

दोहा-

मन बच तीजी काय, तीनु जोग मिलायके।
धरे सील गुण सार, आत्म सुध विचारके॥२८॥

सवैया- तीन ऋतुओं में तपश्चरण का वर्णन

सीत ही की मास आवे, पानी जब जम जावे।
सीत ही के मारे जीव, व्याकुल ही थाय है।
केइ घर माहि जाय, केइ पावक के पास आया।
केइ गर्म वस्त्र ही को धार, सीत ही निवारि है।
बनही के वृक्ष दाहे, सब द्रव्य टंट पाय
सीत ही की बाय चले, काया कंपाय है।
असि हेगी सीत मास, ताही के मझार मुनी
तीरनी के तीर, ध्यान मेरु की समान है॥२९॥

रवि की तप्त भारि, किरण ही जो डोडी धारि
जेठ मास होय जारि, घम^४ तेज ही पडत है।
अडा चिल छोड जाय, मृगस्याम होय जाय
वृक्ष सब सूक जाय, बाड बडाउन चलत है।
गरमी की रुत भारि, जाने सब नर-नारी
सब ही को दुख देत, मानु पावक पडत है।

-
१. बालकों को सुनाई जानी वाली कहानी अर्थात् खेल-खेल में मन बहलाने वाली काल्पनिक कहानी
२. भोग विषय
३. सूर्य
४. धूप

असि ही तपत माहि, गिर सिखर ठाडे ध्यान
अैसे ऋषिराज सार, चिरंजी जो नमत है॥३०॥

पावस की रुत आवे, घटा चहुं ओर छावे,
बिजली नो चमकावे, काली घटा भारि है।
उमग के घटा आवे, जल की जो बरखा छावे,
जल-थल एक थावे, पानी पडे भारि है।
अैसि जो बरसा की माहि, तपोधन धरे ध्यान,
गिर की गुफा में जाय, मौन व्रत धारि है।
दिशा वस्त्र^१ अंगधार, सील ही की सेज्या धार,
तप ही जो धन माल, ताको दिष्ट धारि है॥३१॥

दोहा-

यह तीनों मोसम जान, मुनि कर्म से लडत हैं ।
तन की ममता त्याग, सुध आत्मपद धरत हैं ॥३२॥

-इति चिरंजीलालकृत सवैया समाप्तं

पाण्डुलिपि के अन्तिम पत्र के एक ओर रचना समाप्त की सूचना कर दी गई है। पत्र के दूसरी ओर लिखित **भूधरदासजी कृत** यह पद लिपि बद्ध किया गया है। जो सम्भवतः अभी तक प्रकाशित पदों में नहीं देखा गया।

पद-

खलक एक रेन का सुपना, समज देखो कोण है अपना ।
कठन हए लोभ की धारा, बहा सब जात संसारा ॥खलक०॥१
घड़ा जैसे नर का फूटा, पात जिम डाल से छूटा ।
समज नर ऐसी जिंदगाणी, अबी तुं चेत ज्त्रम मानी ॥खलक०॥२
भूलो मत देख तन गोरा, जगत में जीव नायेझि ।
तजो मद-लोभ-चतुराई, रहो निरसंक जग माहीं ॥खलक०॥३
सजन परवार सुत दारा, सबी उस रोज होय न्यारा,
निकल जब प्रान जावेगे, नही कोइ काम आवेगे ॥खलक०॥४
सदा जिनराज को झाउं, कर जोड़ी चरण चित लाउं ।
कटे जब जनम की वेडी, कहे “भूधरदास” कर जोडी ॥खलक०॥५

॥ इति ॥





कविताएं

हास्य-व्यङ्ग्य क्षणिका

(१)

भारतीय रेल

राष्ट्रसन्त गणेश मुनि शास्त्री

जिन्दगी से ऊबे, एक आदमी ने
आत्महत्या का विचार मन में
आने पर तय किया- रेल से कटकर मरूंगा।
दूसरे दिन, खाने से भरा हुआ
टिफिन लिये पटरी पर जा लेटा।
कुछ देर बाद, एक व्यक्ति
वहां से निकला, और इस आदमी
को अपने नजदीक टिफिन खिसकाता देख
बोला- 'अरे महाशय! मरने जा रहे हो?'
उसने कहा-हां!
आदमी ने प्रश्न किया-फिर अपना टिफिन
नजदीक क्यों खिसका रहे हो?
सुनकर वह आदमी तपाक से बोला
भैया! तुम कहीं बुद्धू तो नहीं हो?
इतना तो सोचते पटरी पर लेटा हूँ तो
रेल से मरूंगा, भूख से नहीं।
किन्तु, भूख है, समय पर ही लगती है,
रेल का क्या भरोसा,

(२)

अपरिमेय

हे प्रभो महावीर
मेरा भविष्य
हो सकते हो तुम।
तुम्हारा भविष्य
हो नहीं सकते हम।
मैं हो सकता हूँ
तुम्हारा अतीत।
तुम हो सकते हो
मेरे अतीत।
न भूत से है प्रीत
न अनागत से लगावा।
केवल रह गया है
वर्तमान से चावा।
वर्धमान
वर्तमान के पथ का
खुशबू बिखराता हुआ
है अद्वितीय फूल
हम गये थे
यह भूल
हे महावीर!
तुम ही हो हमारे
उपासक/विकासक
परम ध्येय/ज्ञेय
अपरिमेया।

प्रणाम

-रश्मि जैन

हे युग विधाता
त्राण त्राता।
पितृ भ्रातृ माता।
सबको साता।
तेरे गुणों को बनने प्रधान
हर प्राणी गाता
हे युग प्रधान!
लीन ज्ञान-ध्यान
तुम्हारा सम्मान
त्रैलोक्य महान
हे समता धीर!
महान गंभीर!
हर प्राणी का
देखकर दुःख
बह जाता हो समंदर सा
आंखों से नीर।
ऐसे प्रभु को
शत शत वंदन
कोटिशः प्रणाम
जो हैं
अहिंसा के अवतार
भगवान महावीर



ŚRAMAᅇA

Third Monthly Research Journal of Pārśvanātha Vidyāpītha

Vol-49]

Number 1-3]

[January-March-1998

General Editor
Prof. Sagaramal Jain

Editors

Dr. Ashok Kumar Singh
Dr. Shriprakash Pandey

For publishing Articles, News, Advertisement and for Membership, contact

General Editor

Śramaᅇa

Pārśvanātha Vidyāpītha

I.T.I. Road, Karaundi

P.O. : B.H.U.

Varanasi- 221 005

Phone : 316521, 318046

Annual Subscription

For Individual	:	Rs. 100.00
For Institutions	:	Rs. 150.00
Single Issue	:	Rs. 20.00

Life Membership

For Institutions	:	Rs. 1000.00
For Individual	:	Rs. 500.00

Jaina Process of Learning

Dr. Mohan Lal Mehta*

True education consists in right knowledge, right belief and right conduct. Acquisition of knowledge, i.e. learning is an essential characteristic of the sentient being. The Jainas regard knowledge to be of two types: indeterminate and determinate. These are two stages of learning. Indeterminate knowledge or *darśana* is the first stage of cognition. It is in the form of apprehension. Determinate knowledge or *jñāna* is the second stage of cognition. It is in the form of comprehension. The process of learning passes through these two stages.

Comprehension is the determinate, distinct and definite cognition of an object. The Jaina thinkers, just like other ancient philosophers of India, recognise two varieties of comprehension: Sensory and extra-sensory. Sensory comprehension is conditioned by the senses and mind, whereas extra-sensory comprehension is directly derived from the source of consciousness, i.e., soul. It perceives the object directly and immediately without any assistance of the senses and mind; hence, it is also called direct perception, immediate perception or extra-sensory perception.

Sensory (including mental) comprehension is of two kinds: verbal (*śruta*) and non-verbal (*mati*). As regards the varieties of non-verbal comprehension (*mati-jñāna*), there is a slight difference of opinion among different authors. This difference lies in the fact that some of them have unconsciously undergone a confusion between apprehension and comprehension. Or let us express the same fact in a different way. They have dealt with the process of cognition in general without indicating its two divisions, viz., apprehension and comprehension. They

* Former Professor of Philosophy, Pune University, Pune.

JAINA PROCESS OF LEARNING

regard even the first stage of cognition, i.e., the awareness of the contact of an object with a sense organ as a kind of comprehension (*jñāna*). The fact is that upto the stage of the awareness of the existence of an object that arises just after the sense-object-contact, is the province of apprehension (*darśana*).

Non-verbal comprehension is generally divided into four kinds: sensation (*avagraha*), speculation (*īhā*), perception (*avāya*) and retention (*dhāraṇā*).

Sensation is the first stage of comprehension of an object determined by a secondary common feature born of apprehension that follows the contact of the sense-organ and the object and has mere existence as its object¹. Every object is in possession of two types of general attributes : primary and secondary. The primary generality is that of existence (*sattā*). This is the highest type of universality. It is cognised by apprehension that arises just after sense-object-contact. Every other generality is secondary, because it covers a limited number of things. Sensation cognises a secondary generality and not the primary one. The primary generality, i.e., mere existence is exclusively cognised by apprehension. Thus, sensation is the first stage of cognition of an object determined by a secondary common character. The contact between a sense-organ and its object is a relation competent for the rise of cognition. It is a sort of competency constituted by situation of the object in a spatio-temporal context which is neither too far, nor too near, nor intercepted by an obstructive barrier. Apprehension is that cognition which does not comprehend the specific characters of an object. It arises immediately after sense-object-contact.

Apprehension itself is transformed into sensation when it attains the stage of specific determination at the subsequent stage of cognition, viz., sensation.

After sensation which is the primary stage of sensory perception there arises a cognition that enquires more facts about the specific characters of its object. Speculation is the cognition, knowing the object more distinctly. In sensation there is only a general awareness of the object. In speculation, our enquiry advances towards a distinctive

awareness. though we are not quite sure of the distinctive characters. We approximately grasp the distinctive features. For instance, in sensation we simply hear a sound and do not know the nature thereof. There we have a mere acquaintance of the sound. In speculation we are able to cognise the nature of the sound to a great extent. The *Tattvārtha-bhāṣya* differentiates sensation and speculation as follows: 'Sensation cognises only a part of the object, while speculation cognises the rest and strives for the determination of a specific feature'.² Sensation, according to it, is an indistinct awareness of the object, that is why it cognises only a part of its object, while speculation is a distinct cognition, and hence, it knows the rest and strives for the determination of the particular character of its object.

Perception is third variety of non-verbal sensory comprehension. It follows in the wake of speculation. The enquiry that begins in the state of speculation attains completion at this stage. In speculation our mental state tends towards the enquiry for the right and the wrong and in perception we attain the stage of the ascertainment of the right and the exclusion of the wrong.³ In other words, perception is a determinate cognition of the specific feature of an object. It arises from the exclusion of the wrong and the ascertainment of the right. Now, how does perception involve the ascertainment of the existent specific feature and the exclusion of the non-existent character? Take the same instance of sound. On hearing the sound, the person determines that this sound must be of a conch and not of a horn, since it is accompanied by sweetness which is the quality of conch, and not by harshness which is the quality of horn. This type of ascertainment of the existent specific feature of an object is called perception.⁴

Retention follows in the wake of perception. At this stage the determination that took place at the stage of perception is retained. The *Nandī-sūtra* defines retention as the act of retaining a perceptual judgment for a number of instants, numerable or innumerable.⁵ According to the *Tattvārtha-bhāṣya*, retention is the final determination of the object, retention of the cognition and recognition of the object in the future.⁶ Thus, according to the opinion of Umāsvāti, retention develops through three stages. Firstly, the nature of the object is finally

determined, secondly, the determination of the object is retained and thirdly, the object is recognised on future occasions. Jinabhadra defines retention as 'the absence of the lapse of perceptual cognition'.⁷ At this stage the judgment which has been acquired in the third stage of comprehension, becomes so firm that it does not lapse. Like Umāsvāti he also admits three stages of retention.

Verbal comprehension is the knowledge derived from the reading or hearing of words of trust-worthy persons. The knowledge embodied in scriptures, i.e., in the works of reliable authorities is also called verbal knowledge, Verbal comprehension is necessarily preceded by non-verbal comprehension. As has been observed by Umāsvāti: Scriptural comprehension is preceded by non-verbal comprehension. The difference of the two is that non-verbal comprehension comprehends only what is present, whereas scriptural comprehension knows what is present, past and future'.⁸ As regards the types of scriptural comprehension, there may be as many as the number of letters and their different combinations, since the very foundation of scriptural comprehension is verbal assertion, and such being the case, it is not possible to enumerate all the types.⁹ Bhadrabāhu mentions fourteen salient features of scriptural comprehension. They are: alphabetic, discursive, right, having beginning, having end, containing repetition, that which is included in the original scriptures, non-alphabetic, non-discursive, wrong, having no beginning, having no end, containing no repetition and that which is excluded from the original scriptures.¹⁰ He further enumerates eight qualities of intellect necessary to give rise to verbal comprehension. These qualities are: desire for hearing, repeated questioning, attentive hearing, grasping, enquiry, conviction, retention and right action.¹¹ To properly grasp the importance of verbal comprehension let us understand the nature of alphabet. The *Nandī-sūtra* recognises three varieties of alphabet : script, sound and learning. The shape of a letter is called script or alphabet proper. The spoken letter is nothing but sound. Learning is the competency to follow the meaning of the letters and their combinations.¹² The first two varieties are only material symbols written or spoken. The third variety is verbal comprehension proper, in as much as it is kind of cognition which is different from material symbols. It can be produced through any of

the senses and mind provided it involves verbal assertion. When we hear a sound or see a coloured shape, there arises in the wake of sensory perception, i.e., non-verbal comprehension, a cognition having appropriate words composed of various letters following the conventional vocabulary. This type of cognition is called verbal comprehension.

Reference:

1. *Pramāṇa-naya-tattvāloka*, Vādidevasūri, trans. Hindi, Pt. Sobhacandra Bharilla, Jaina Gurukula-Sikshana-Sangha, Byavara, 1942, 11,7.
2. *Tattvārtha-bhāṣya*, Umāsvāti, Śrīmad Rājacandra Jaina Śāstramālā Śrīmad Rājacandra Āśrama, Aḡasa, 1932, 1-15.
3. *Ibid* 1-15.
4. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya*, Jinabhadraḡaṇi, ed. Nathmal Tatia, Research Institute of Prākṛt, Jainology and Ahimsā, Vaishali, 1972, 290.
5. *Nandī-sūtra*, ed. Madhukara Muni., Jināgama text S.No. 12, Āgama Publication Committee, Byavara 1982, 35.
6. *Ibid* I, 15.
7. *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya* Vaishali 80.
8. *Ibid*, 1, 20.
9. *Āvaśyakaniryukti*, 17. Part One, Bherulal Kanhaiyalal Kothari, Dharmika Trust, Bombay 1981.
10. *Ibid.*, 19.
11. *Ibid.*, 22.
12. *Nandī-sūtra*, Byavara, 38.



Śramaṇa

A Study of Extracts in Aṣṭaka-Prakaraṇa

Dr. Ashok Kumar Singh*

Haribhadra, an eminent scholar with the sound background of Brahmin tradition, after his conversion to Jaina faith, became authority in Sramanic tradition, too. His sound and deep knowledge of both traditions, as usual, proved to be great boon for him when he set upon to corroborate Jaina view-points, to refute those of other's (heretic.). His profound knowledge, of different traditions and multifarious disciplines, magnificently enriched by his genius, produced a great number of treaties of everlasting importance on the variety of subjects.

In *Aṣṭaka Prakaraṇa* also, most frequently, he quoted or referred to, with remarkable ease or rather at his will to support the Jaina view-point or refute that of heretics, from Jaina, Vedic and Buddhist texts. In the process scores of verses, references, occurred there in. He has cited some verses alongwith author's name such as *Mahāmati* (Siddhasena Divākara), in case of *Nyāyāvātāra* and '*Mahātmanā*' (*Maharṣi Vyāsa*), in case of *Mahābhārata*, some references with titles e.g. *Śivadharmottara* and *Lañkāvatārasūtra*. But majority of the quotes or references occurred without divulging the both i.e. the name of author and title. The quotations and references, from Jaina canons and exegetical literature, have been referred to as *Jināgama*, '*Sūtramityāde*' and *Sūtre*. Here is an attempt to trace and analyse the sources of these verses etc. quoted or referred to in *Aṣṭaka Prakaraṇa*.

Before proceeding, the effort of Mr. Khushaladas Jagajivanaḍaṣa, the editor of Gujarāti translation of *Aṣṭaka-Prakaraṇa*

* Sr. Lecturer, Pārśvanāth Vidyapīṭha.

brought out by Mahāvira Jaina Vidyalaya, Bombay 1941, must be acknowledged. Though he did not find out the sources of all the extracts and with full details yet his effort is commendable.

A study of these extracts etc. reveals that Haribhadra in this text has cited from or referred to *Vālmiki Rāmāyaṇa*, *Mahābhārata*, *Manusmṛti*, *Viṣṇusmṛti*, *Śivadharmaṅgāraṇa* etc. Brahminical texts. *Ācārāṅgasūtra*, *Kalpasūtra*, *Āvaśyakaniryukti*, *Nyāyāvātāra* and *Viśeṣāvaśyaka Bhāṣya* among Jaina texts and Buddhist text in sanskr̥t, *Laṅkāvatārasūtra*.

As already mentioned Vedic text *Śivadharmaṅgāraṇa* and Buddhist text *Laṅkāvatārasūtra* have been explicitly referred to. Sources of the remaining quotations etc. have to be traced out.

We find, in this regard that the first quotation occurs in the fourth *Agnikārikāṣṭakam*. Haribhadra in this *Aṣṭaka* maintains that the practice of Sacrificial fire (*Agnikārikā*), resorted to by devotees of heretic traditions, bestows worldly achievements only. The ultimate goal of emancipation, attained by knowledge and meditation, can never be realised by it (Sacrificial fire). The verses : one containing his (Haribhadra's) proposition and other quoted from *Śivadharmaṅgāraṇa* to prove his point, are as follows --

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता ज्ञानध्यानफलं च स ।

शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं शिवधर्मोत्तरे ह्यदः ॥ २/४

पूजया विपुलं राज्यमग्निकार्येण सम्पदः ।

तपः पापविशुद्ध्यर्थं ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥ ३/४॥

That is worship and Sacrificial fire (*Agnikārikā*) yield worldly pleasures like statehood and riches only. Penances eliminate sins, salvation is the outcome of knowledge and meditation. Haribhadra, in order to glorify the penance, knowledge and meditation, and to denounce the worship and sacrificial fire, has cited the verse from *Śivadharmaṅgāraṇa*, probably another name of *Śivapurāṇa*.

It appears that Ācārya has composed these verses on the basis of ideas found in *Śivapurāṇa*. I have not been able to trace this particular verse in *Śivapurāṇa*. However, its 41th chapter, *Koṭirudrasaṁhitā*, verse 17-19 and in chapter 12th, *Umāsaṁhitā* the theme of the verse is available. It may be possible that at the time of Haribhadra this particular verse was available in some recensions of the text (*Śivadharmottara*).

Again in the verse sixth of the same *Aṣṭaka*, *Agnikārikā*, Ācārya depicts that refraining from vicious conduct is better than endeavour to purify or eliminate it, after indulging in it (vicious conduct), through the act of benevolence etc. To substantiate this point, he has cited the following verse in the name of *Mahātmanā* (चोक्तं महात्मना), occurring in *Mahābhārata* --

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पङ्क्तस्य दूरादस्पृशं वरम् ॥६/४

That is for him, pursuing wealth for purposes of virtue, to refrain or abstain from such pursuits is better, because surely not to touch mire (at all) than to wash it off (after having besmeared with it) is better.

In the 13th *Dharmavādāṣṭakam* the Haribhadra upholds that virtuous ones ought to deliberate on the essence of religion. He, at the same time advises them not to ponder over the definition of valid knowledge, because there is no use in (deliberating on) it. To support this proposition, he quotes a verse (*kārikā*), in the name of *Mahāmati* (*Siddhasena Divākara*) (तथा चाह महामतिः). The verses -- the one propounding his (Haribhadra) view and other, the quote are as follows--

धर्मार्थिभिः प्रमाणादेर्लक्षणं न तु युक्तिमत् ।
प्रयोजनाद्यभावेन तथा चाह महामतिः ॥४/१३॥
प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारञ्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ॥५/१३॥

That is righteous one ought not to deliberate on the definition of valid knowledge etc. because of lack of motive in discussing it. Also because great scholar Ācārya Siddhasena has propounded likewise --

Means of knowledge and application ensuing them are well-known, hence, relating the definition of valid knowledge (*Pramāṇa*) is superfluous.

The verse 'प्रसिद्धानि प्रमाणानि' occurs in *Nyāyāvatāra* (*Kārikā*, 2) of Siddhasena. However, it is notable that *Nyāyāvatāra* is, not unanimously, ascribed to Siddhasena Divākara. According to some scholars *Nyāyāvatāra* is not the work of Siddhasena Divākara.

Haribhadra has denounced meat-eating, liquor-drinking and copulation in 17th, 18th, 19th and 20th prakaraṇas of this text. In the process of refuting the view-point of advocates of meat-eating, he cites the famous verse of *Manusmṛti* --

न मांसं भक्षणे दोषः न मद्ये न च मैथुने।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ २/१८॥

There is no sin in eating meat, in drinking spirituous liquor and in carnal intercourse, for that is the natural way of living beings but abstention (from these) brings great rewards.

On the basis of *Manusmṛti* itself, he attempts to refute these contentions one by one. To refute meat-eating, he has cited the following verses from the *Manusmṛti*, which are self-contradictory. The verses of *Manusmṛti* occurred in *Aṣṭaka Prakaraṇa*, (18th) are as follows --

मांसं भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम् ।

एतन्मासस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३/१८

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया ।

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव वाऽत्यये ॥ ५/१८

'Me' he will devour in the next world, whose flesh I eat in this life, the wisemen declare this to be the real meaning of the term flesh.

One may eat meat, when sprinkled with water, purified by recital of mantras, when Brahmins desire one to do so, and when one is engaged in performing a rite., according to ritual and when one's life is in danger.

It is evident from the former of the above two verses of *Manusmṛti*, that *Smṛtikāra* warns the meat-eater to face the same fate in his next birth i.e. to be the object of the creature whose meat he has relished in the present-birth.

On the other hand, *Manusmṛtikāra* warns that a man, duly engaged to officiate or dine at a sacred rites, if refuses to eat meat, becomes after death, an animal in coming twenty-one births. This verse is as follows--

यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्ति वै द्विजः।

स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेकविंशतिम् ॥७/१८॥

Thus, in refusing the meat-eating the danger of becoming animal in 21 births, makes the idea of great reward meaningless. The cost of abstention 'निवृत्ति' being so dear, one will be forced to resort to inclination (meat-eating).

Haribhadra, in his attempt to bringout the inherent contradictions of the verse, 'न मांसभक्षणे दोषः' annules the proposition, abstention is great reward 'निवृत्तिस्तुमहाफला'. According to Haribhadra, abstention is irrelevant in the context of Jaina monks, who are strictly forbidden to take meat. Apparently, if the proposition of great reward is accepted, those not eating meat like Jaina monks will have no opportunity to have this great reward, hence proposition is illogical.

It is notable that the recension of the first half of this verse (7/18) vary from that of *Manusmṛti* (5/35). The first half is as follows.

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नात्ति मानवः। ५/३५

यथाविधि नियुक्तस्तु यो मांसं नात्ति वैद्विजः । ७/१८

११४ : श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

To refute the idea 'there is no sin in meat eating'. Haribhadra has also referred to Buddhist Sanskr̥t text, *Lañkāvatārasūtra* also known as *Saddharmalañkāvatārasūtra*, where Lord Buddha has forbidden meat-eating --

शास्त्रे चापनेन वोऽप्येतन्निषिद्धं यत्नतो ननु ।

लङ्कावतारसूत्रादौ, ततोऽनेन न किञ्चन ॥८/१८

That is your attained (Buddha) also has prohibited meat-eating in Buddhist canons like *Lañkāvatārasūtra* etc. hence advocating meat-eating is futile. The verse forbidding meat-eating found in *Lañkāvatārasūtra* is as follows --

मद्यं मांसं पलाण्डुं न भक्षयेयं महामुने ।

बोधिसत्त्वैर्महासत्त्वैर्भाषदभिर्जिन पुङ्गवैः ॥ १/८

— मांसभक्षण परावर्तः

In the light of above verses, it becomes clear that Haribhadra has succeeded in pointing out the inherent contradictions of this proposition, 'न मांसं भक्षणे दोषः'।

While refuting the third contention 'there is no sin in coupulation, (न च मैथुने) Haribhadra has referred to an illustration occurred in *Vyākhyāprajñāpti (Bhagavati)*. That verse in *Aṣṭaka Prakaraṇa* is as follows --

प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः ।

नलिका तप्तकणक प्रवेश ज्ञाततस्तथा ॥ ७/२०

That is great sages have preached in canons (शास्त्रे) through an illustration, that this intercourse is the destroyer of creatures, in the sameway as the penetration, of heated golden-rod into pipe, kills insects. The illustration referred to by Haribhadra occurs in *Vyākhyāprajñāpti* like this --

'केई पुरिसे रूयनालियं वा बूरनालियं वा तत्तेणं कणएणं समभिद्धसेज्जा' that is just as a human being may, with the help of a burning match-stick,

destroy a stalk of a cotton plant or a stalk of a Bura plant so does a soul indulging in sex experience, incur non-restraint of the sorti.

This illustration is also found in *Puruṣārtha-Siddhyupāya* of Amṛtacandrasūri (9th-10th cent. A.D.) in following verse.

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् ।

बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥

It means just as a hot rod burns up the sesamum seed filled in a tube, in which it is introduced, in the same way many beings are killed in the vagina during copulation.

In the context of (21st) '*Sūkṣmabuddhyāśrayaṇāṣṭaka*' also Haribhadra maintains that in the observance of vows etc essence--spirit or real meaning of such acts should be scrutinised thoroughly, lest good intentions turn into desiring ill towards others. To illustrate it, Haribhadra quotes the instance of a monk, vowing to give medicine to some one. It clearly implies the sickness of someone if the vow is to be fulfilled. To desire sickness, in any case, is not desirable. Haribhadra advises to consider the pros and cons of volited act or intention, minutely. To substantiate his point, he cites from *Rāmāyaṇa* where Rāma is seen wishing that his feeling of gratitude may decrepitude in his (Rama's) limbs itself, because the return of gratitude requires the doer to be in distress so that he could be helped, which is, in any case, an undesirable situation.

It is notable that this verse is absent in all the recensions of *Rāmāyaṇa*, barring its Kumbhakāṇa edition.

The context of the verse, also is different in *Rāmāyaṇa* and commentary on *Aṣṭaka Prakaraṇa*. In *Rāmāyaṇa* (Kumb. ed.) Rama is seen expressing his gratitude towards Hanumāna, while in *Aṣṭaka* commentary, Jineśvarasūri describes that Sugreeva has expressed his gratitude towards Rama on the occasion of handing over of Tara by Rama to him.

The verse quoted in *Aṣṭaka Prakaraṇa* (6/21), and occurred in *Rāmāyaṇa*, respectively, are as follows --

अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं मम ।
 नरः प्रत्युपकाराय विपत्सु लभते फलम् ॥
 अङ्गेष्वेव जरा यातु यत्त्वयोपकृतं कपे ।
 नरः प्रत्युपकाराणामापत्सु लभते फलम् ॥

— उत्तरकाण्ड, रामायण

Thus, the word 'कपे' occurred in *Rāmāyaṇa*, aptly corroborates the version that this utterance is related only with Rama and Hanūmāna while that *Aṣṭaka Prakaraṇa* (having मम) may be interpreted both ways i.e. Rāma to Hanūmāna, or Sugreeva to Rāma).

It may be possible that commentator might have a recension of *Rāmāyaṇa* in which Sugreeva is depicted as having uttered like this or the commentators assumption or source of information was not correct.

Again in 25th '*Puṇyānubandhipuṇyapradhānaphalāṣṭakam*' Haribhadra cites the particular volition of Mahāvīra, while he was still in embryo, about not leaving the home in the life-time of his parents.

जीवितो गृहवासेऽस्मिन् यावन्मे पितराविमौ ।
 तावदेवाधिवत्स्यामि गृहानहमपीष्टतः ॥ ४/२५

A sūtra and gāthā containing the same theme occur in *Kalpasūtra* and *Viśeṣāvaśyakabhāṣya*, respectively, as follows --

नो खलु मे कप्यइ अम्मापिऊहिं जीवतेहिं मुंडे ।
 भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पच्चइत्तए ॥

— कल्पसूत्र

अह सत्तमम्मि मासे गब्भत्थो चेव अभिग्गहं गिण्हे ।
 नाहं समणो होइ अम्मापियरम्मि जीवते त्ति ॥

— वि०भा०, गाथा ९९

To comprehend the above reference it is necessary to describe the context of the proposition. Haribhadra presupposes that opponents may argue that for one, striving for the ultimate goal of salvation, what is the use of activities such as compassion, charity or service to or care for worldly creatures, in general or family members etc., in particular. To remove all these apprehensions, Haribhadra maintains that the inclination towards good deed and service to elders is likely to bring great reward in form of salvation and even seerhood (*Tirthaṅkaratva*). It is, in this context, he cites that even Mahāvīra, from the very beginning of his present birth of *Tirthaṅkara*, was involved in such virtuous activities.

Again, the contention of Buddhist is that charity, made by Mahāvīra at the time of his renunciation, can not be termed as great. As his charity is *numerable* and this is clearly mentioned in Jaina canonical texts' (सूत्रमित्यादि). The information regarding his *numerable* charity is mentioned in *Ācārāṅga* and *Āvaśyaka Niryukti*, in following manner --

एगा हिरण्ण कोडी अट्टेव अण्णया सय सहस्सा ।

तिण्णेव य कोडिसता अट्टासीतिं च होति कोडीओ ।

असीतिं च सतसहस्सा एतं संवच्छरे दिण्णे ॥ २/३/१५/११३ ।

— आचाराङ्ग ।

तिन्नेव य कोडीसया अट्टासीइ च होइ कोडीओ ।

असीइ च सयसहस्सा एयं संवच्छरे दिण्णं ॥ २२०

— आ०नि० ।

Refuting Buddhist contention, Haribhadra maintains that greatness of his (Mahāvīra's) alm lies in his declaration 'ask for alm' 'ask for alm' (वरवरिकातः)।

महादानं हि संख्यावदर्थ्यभावाज्जगद्गुरोः ।

सिद्धं वरवरिकातस्तस्याः सूत्रे विधानतः ॥ ५/२६

११८ : श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

This concept of 'Varavarikā' is depicted in *Āvaśyakaniryukti* like this --

वरवरिआ घोसिज्जइ किमिच्छअं दिज्जए बहुविहीउ ।

सुरअसुरदेवदाणवनरिंदमहिआण निक्खमणे ॥२१९॥

In the 29th, *Sāmāyikasvarūpanirūpaṇāṣṭakam'* Ācārya Haribhadra analas those endowed with *Sāmāyika* with Sandal who fill even the cutter (axe), with fragrance. This analogy of gentlemen with Sandal occurs also in *Subhāṣitaratnabhāṇḍāgāraṇ*, in the name of Ravigupta --

सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि ।

छेदऽपि चन्दन तरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य ॥११०॥

In *Aṣṭaka* comm. also two relevant verses occur --

अपकार परेऽपि परे, कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्तः ।

सुरभिं करोति वासीं, मलयजमणि तक्ष्यमाणमपि ॥

यो मामपकरोत्येष, तत्त्वेनोपकरोत्यसौ ।

शिरामोक्षाद्युपायेन कुर्वाण इव नीरुपम् ॥

The above discussion shows that Ācārya Haribhadra has beautifully and successfully exploited his knowledge of Jaina as well as other traditions to prove his point or refute that of others.





जैन-जगत्

मद्रास में 'Pearls of Jaina Wisdom' का भव्य लोकार्पण समारोह

मद्रास, ५ नवम्बर, ९७ भगवान् महावीर फाउन्डेशन के मैनेजिंग ट्रस्टी श्री सुगाल चंद जैन ने दि० ५ नवम्बर को प्रातः साढ़े नौ बजे मद्रास में आयोजित एक



संक्षिप्त किन्तु भव्य समारोह में श्री दुलीचन्द जैन द्वारा लिखित और पार्श्वनाथ विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित Pearls of Jaina Wisdom नामक पुस्तक का विमोचन किया। मुनि श्री जसराज जी महाराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुए इस समारोह में श्री कृष्णचन्द्र जी चौरड़िया, श्री कैलाशमल जी दूगड़, श्री एस० श्रीपाल, श्री सुरेन्द्र एम० मेहता, श्री जी०एल० सुराना आदि गणमान्य श्रावक उपस्थित थे।

इटली के प्रधानमंत्री द्वारा श्री हजारीमल जी बांठिया का सम्मान

नई दिल्ली, ६ जनवरी : सुप्रसिद्ध समाजसेवी, साहित्यरसिक और पंचालशोध संस्थान, कानपुर के संस्थापक व कार्यवाहक अध्यक्ष श्री हजारीमल जी बांठिया का दि० ६ जनवरी १९९८ को राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली में इटली के प्रधानमंत्री माननीय प्रो० रोमनो प्रोदो द्वारा सम्मान किया गया। ज्ञातव्य है कि भगवान् विमलनाथ की जन्मभूमि

१२० श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

तथा पंचाल जनपद की राजधानी काम्पिल्य के महाभारतकालीन खंडहरों-टीलों आदि की ओर इटली के पुरातत्त्वविदों का ध्यान आकर्षित कर वहाँ सर्वेक्षण आदि कार्यों में उन्हें सक्रिय सहयोग प्रदान करने के उपलक्ष्य में श्री बांठिया जी को यह सम्मान प्राप्त हुआ है। काम्पिल्य में विस्तृत उत्खनन कार्य के लिये काम्पिल्य प्रोजेक्ट नामक एक परियोजना तैयार की गयी है जिसपर लगभग ६ करोड़ रुपये व्यय होंगे और इसका आधा भाग भारत सरकार तथा आधा भाग इटली की सरकार द्वारा वहन किया जायेगा। इस अवसर भारत और इटली के प्रमुख पुरातत्त्वविदों ने भी अपने विचार व्यक्त किये और कहा कि यदि यह परियोजना सफल हो जाती है तो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की भांति काम्पिल्य का भी नाम विश्व में प्रसिद्ध हो जायेगा।

डॉ० जगदीश चन्द्र जैन पर डाक टिकट जारी

पुणे, २८ जनवरी : विख्यात प्राच्य विद्या संशोधक डॉ० जगदीश चन्द्र जैन पर भारत सरकार के डाक विभाग ने एक डाक टिकट जारी किया। इसका विमोचन पूर्व केन्द्रीय मंत्री और योजना आयोग के पूर्व उपाध्यक्ष श्री मोहन धारिया ने भंडारकर प्राच्य विद्या संशोधन संस्थान, पुणे में आयोजित एक समारोह में किया।

भारतीय डाक विभाग ने इससे पूर्व लाला लाजपत राय, डॉ० विक्रम साराभाई, कर्मवीर भाऊराव पाटिल और मुनि श्री मिश्रीमलजी महाराज पर भी पूर्व में डाक टिकट प्रकाशित किये हैं।

आचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री के सान्निध्य में उदयपुर में भव्य दीक्षा समारोह सम्पन्न

उदयपुर, ९ फरवरी : आचार्य सम्राट श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री के पावन सान्निध्य में पंजाब निवासी दो बाल मुमुक्षुओं- विकास जैन और अरुण जैन की एक भव्य समारोह में आर्हती दीक्षा सम्पन्न हुई। इस सुअवसर पर स्थानकवासी जैन समाज के गण्यमान्य व्यक्ति तथा बड़ी संख्या में श्रावक-श्राविकाओं की उपस्थिति उल्लेखनीय रही।

'स्वराज्य और जैन महिलायें' नामक पुस्तक का विमोचन

डॉ० श्रीमती ज्योति जैन द्वारा लिखित "स्वराज्य और जैनमहिलायें" नामक पुस्तक का पिछले दिनों मुजफ्फरनगर के समीपवर्ती जैन अतिशय तीर्थक्षेत्र वहलना पर आयोजित एक भव्य समारोह में उत्तर प्रदेश शासन के स्वास्थ्य राज्य मंत्री डॉ० अरविन्द जैन ने लोकार्पण किया। श्रीमती जैन, जैन विद्या के उदीयमान नक्षत्र, प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० कपूरचन्द जैन की धर्मपत्नी हैं। पति-पत्नी दोनों ही अपने अन्यान्य शैक्षणिक

गतिविधियों के बीच भी निर्बाध रूप से 'स्वतंत्रता संग्राम में जैनों का योगदान' विषय पर पिछले १० वर्षों से गम्भीर शोध कर रहे हैं। उनका यह प्रयास अनुकरणीय है।

श्रीमती मनोरमा जैन को पी-एच० डी० की उपाधि



श्रीमती मनोरमा जैन को उनके शोध प्रबन्ध "सत्रहवीं शताब्दी के महाकवि राजमल्ल विरचित 'पंचाध्यायी- एक अध्ययन'" पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। श्रीमती जैन ने अपना यह शोध प्रबन्ध प्राच्य विद्या संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० कमलेश कुमार जैन के निर्देशन में पूर्ण किया। इससे पूर्व श्रीमती जैन ने सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर स्वर्णपदक के साथ जैन दर्शनाचार्य की उपाधि प्राप्त की थी। श्रीमती मनोरमा जैन पार्श्वनाथ

विद्यापीठ के पूर्व शोध छात्र और वर्तमान में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रोफेसर सुदर्शन लाल जैन की धर्मपत्नी हैं। श्रीमती जैन को इस सफलता पर पार्श्वनाथ विद्यापीठ परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

पत्रमित्रों की सूची निःशुल्क प्राप्त करें

विश्व भर के शाकाहारी जैन पत्र मित्रों की सूची जबाबी लिफाफा या दो रुपये के डाक टिकट निम्न पते पर भेजकर निःशुल्क प्राप्त किया जा सकता है।

जैन फ्रेण्ड्स, २०१, मुम्बई-पुणे मार्ग, चिंचवण पूर्व, पुणे ४११०१९

न्यायाचार्य डॉ० दरबारी लाल कोठिया श्री गोम्मटेश्वर विद्यापीठ पुरस्कार से सम्मानित

विश्वविख्यात जैनतीर्थ श्रवणबेलगोला में स्थापित श्री गोम्मटेश्वर विद्यापीठ की ओर से प्राचीन जैन वाङ्मय और जैन विद्याओं के सर्वश्रेष्ठ मनीषी को प्रति वर्ष समर्पित किया जाने वाला श्रीगोम्मटेश्वर विद्यापीठ पुरस्कार इस वर्ष डॉ० दरबारी लाल कोठिया को १९ अप्रैल १९९८ को बीना-मध्यप्रदेश में आयोजित एक समारोह में प्रदान किया गया। इस अवसर पर दि० २० अप्रैल को एक अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी का भी आयोजन किया गया, जिसमें देश के प्रमुख दिग्गम्बर विद्वानों ने भाग लिया।

महावीर पुरस्कार १९९८ एवं पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार- १९९८ के लिये रचनायें आमंत्रित

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महावीर जी द्वारा संचालित जैन विद्या संस्थान, श्रीमहावीर जी के वर्ष १९९८ के महावीर पुरस्कार के लिये जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य, संस्कृति आदि से सम्बन्धित किसी भी विषय की पुस्तक या शोध-प्रबन्ध की चार-चार प्रतियां दिनांक ३० सितम्बर १९९८ तक आमंत्रित की जा रही हैं। प्रथम स्थान प्राप्त कृति को ११००१ रुपये नकद एवं प्रशस्ति पत्र तथा द्वितीय स्थान प्राप्त कृति को ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया साहित्य पुरस्कार रु० ५००१ एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा।

३१ दिसम्बर १९९४ के बाद प्रकाशित पुस्तकें ही इसमें सम्मिलित की जायेंगी। अप्रकाशित कृतियों की टंकित या फोटोस्टेट की हुई तीन प्रतियां जो जिल्द बंधी हों, भेजनी आवश्यक है। नियमावली तथा आवेदन का प्रारूप प्राप्त करने के लिये निम्न पते पर पत्र व्यवहार करें-

जैन विद्या संस्थान कार्यालय, दिगम्बर जैन नसियां भट्टारक जी, सवाई राम सिंह रोड, जयपुर- ४

वर्ष १९९७ का महावीर पुरस्कार डॉ० रमेशचन्द जैन, बिजनौर को उनकी कृति 'दिगम्बरत्व की खोज' तथा ब्र० पूरणचन्द रिद्धिलता लुहाड़िया पुरस्कार डॉ० भागचन्द जैन 'भास्कर' को उनकी कृति 'मानवधर्म और पर्यावरण' पर प्रदान किया गया।

स्वयंभू पुरस्कार १९९८ के लिये कृतियां आमंत्रित

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीर जी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जयपुर के वर्ष १९९८ के 'स्वयंभू पुरस्कार' के लिए अपभ्रंश साहित्य से सम्बन्धित विषय पर हिन्दी अथवा अंग्रेजी में रचित रचनाओं की चार प्रतियां ३० सितम्बर १९९८ तक आमन्त्रित हैं। इस पुरस्कार में ११००१/- रुपये एवं प्रशस्ति पत्र प्रदान किया जायेगा।

३१ दिसम्बर १९९३ से पूर्व की प्रकाशित तथा पहले से पुरस्कृत कृतियां सम्मिलित नहीं की जायेंगी। अप्रकाशित कृतियां भी प्रस्तुत की जा सकती हैं, उनकी तीन प्रतियां स्पष्ट टंकण/फोटोस्टेट की हुई तथा जिल्द बंधी होनी चाहिए। पुस्तकें संस्थान की सम्पत्ति रहेंगी और वे लौटाई नहीं जायेंगी।

नियमावली तथा आवेदन पत्र का प्रारूप प्राप्त करने के लिए अकादमी कार्यालय दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी, सवाई रामसिंह रोड, जयपुर- ४ से पत्र व्यवहार करें।

वर्ष- १९९७ के स्वयंभू पुरस्कार के लिए कोई कृति प्राप्त नहीं हुई।



पुस्तक - समीक्षा

जेना हैये श्रीनवकार तेने करशे शुं संसार, संपादक- अंचलगच्छीय गणि महोदयसागर प्रकाशक-श्री कस्तूर प्रकाशन ट्रस्ट, १०२, लक्ष्मी अपार्टमेण्ट, डॉ० एनी बेसेण्ट रोड, वरली, मुंबई-१८, आकार-क्राउन अठपेजी, हार्ड बाउण्ड, पृ०-२२१+१८, मूल्य-९० रुपये।

सभी धर्मों के धर्मावलम्बी अपने आराध्य की स्तुति करने के लिए किसी न किसी प्रार्थना या मन्त्र को प्रमुखता देते हैं। इसी क्रम में जैन धर्मावलम्बियों ने 'णमोकार मन्त्र को महत्त्वपूर्ण माना है। उक्त मन्त्र को आधार बनाकर पूर्व में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है किन्तु प्रस्तुत 'जेना हैये श्रीनवकार तेने करशे शुं संसार' नामक पुस्तक उन (पूर्व प्रकाशित) पुस्तकों का अपवाद होगी, क्योंकि इसमें गुजराती भाषा में णमोकारमन्त्र पर सभी दृष्टिकोणों से गहराई से विचार किया गया है।

आशा है इससे जैन धर्मानुरागियों एवं शोधार्थियों को समुचित लाभ प्राप्त होगा। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक एवं आवरण सुन्दर है। उक्त कारणों से पुस्तक संग्रहणीय है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

श्रमण संस्कृति- संपादक- उम्मेद मल गाँधी, प्रकाशक- श्री अ०भा०सा० जैन श्रावक संघ, ५८, भामाशाह मार्केट, उदयपुर-१, वर्ष १, प्रवेशांक अक्टू० ९६, पृ०-६२, आकार-डिमाई, पेपर बैक, शुल्क (१ प्रति) ५ रु०।

जिस प्रकार एक छोटा सा पीपल या बरगद का बीज अपने अनुकूल मिट्टी, खाद, पानी और धूप की सहायता पाकर एक बड़े वृक्ष का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार मानव भी सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बल पर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसके लिये मोक्ष के अनुकूल उद्बोधन की आवश्यकता होती है जो श्रमण संस्कृति में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

उक्त (श्रमण संस्कृति) पत्रिका का शुभारम्भ अभी कुछ समय पूर्व ही हुआ है किन्तु इसके विषय वस्तु और विषय-चयन से यह ज्ञात नहीं हो पा रहा है कि इसका

१२४ श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

शुभारम्भ हाल ही में हुआ है। हम इसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हैं साथ ही इसे बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय बनाने का आग्रह भी करते हैं।

पत्रिका का मुद्रण कार्य निर्दोष एवं आवरण आकर्षक है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

पूर्णकाम - तृप्त दशा-सम्यक तप- संकलनकर्ता- डॉ० सुरेशचंद्र सोभागचंद झवेरी, प्रकाशक- श्री नवदर्शन पब्लिक चेरिटेबल ट्रस्ट, पार्श्वनगर कॉम्प्लेक्स, जैन पाठशाला, सगरामपुरा- सूरत- २, प्रथम संस्करण संवत् २०५३, पृ०- ५२, आकार-डिमाई, पेपर बैक।

जीवो अनादिमलिनो मोहान्धोऽयं च हेतुना येन।

शुध्यति तत्तस्य हितं तच्च तपस्तच्च विज्ञानम् ॥

“अर्थात् आत्मा जिन-जिन कारणों से शुद्ध होती है उसी में उसका हित है। उसी का नाम तप है और उसी का नाम विज्ञान है।” इस प्रकार जीवदया के प्रेमी सुश्रावक डॉ० सुरेशचंद्र झवेरी ने प्रस्तुत पुस्तक में जीवनोपयोगी तथ्यों को एकत्रित कर इसे महत्त्वपूर्ण बनाया है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है। पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक एवं मुद्रण कार्य निर्दोष है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

विद्याधर से विद्यासागर, लेखक- कविरत्न सुरेश सरल (जबलपुर), प्रकाशक- वीर विद्या संघ गुजरात, बी/२ संभवनाथ एपार्टमेंट, बरवरिया कालोनी, उस्मानपुरा, अहमदाबाद-१३, द्वितीय संस्करण पृ०- संख्या १३६+५=१४१, मूल्य- १२ (बारह) रूपये।

प्रस्तुत पुस्तक गुरुदेव आचार्य विद्यासागर जी महाराज के जीवन से सम्बन्धित सामग्रियों का संकलन है। प्रस्तुत रचना विद्याधर की कहानी से प्रारम्भ होकर विद्यासागर की कहानी तक जाती है। विद्यासागर जो सचमुच विद्या के सागर हैं, के जीवनवृत्त को एक सूत्र में बाँधना एक कठिन कार्य है, क्योंकि सागर को यदि कोई चाहे कि मैं मुट्टी में बाँध लूँ तो यह शायद उसका दिवास्वप्न होगा। लेकिन उस दिवास्वप्न को कुछ हद तक साकार करने का प्रयत्न कविवर श्री सुरेश जी ने किया है, जो सराहनीय है।

पुस्तक पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक घटना हमारे सामने चलचित्र की भाँति स्पष्ट हो रही है और हम उसका साक्षात् अनुभव कर रहे हैं। इस रचना में आचार्य श्री के प्रारम्भिक जीवन अर्थात् गर्भावस्था से लेकर मुनि दीक्षा तक के जीवन

पर प्रकाश डाला गया है। पुस्तक की विशेषता यह है कि इसके अन्त में आचार्य श्री की जीवन-पत्री (जन्म कुण्डली) का भी समावेश किया गया है, जो ज्योतिष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस अनुपम कृति के लिए लेखक बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की छपाई एवं साज-सज्जा निर्दोष है। केवल पुस्तकालयों के लिए ही नहीं अपितु प्रत्येक जैन परिवार में यह पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० सुधा जैन

विश्व-प्रसिद्ध जैनतीर्थ: श्रद्धा एवं कला, लेखक- महोपाध्याय ललित प्रभ सागर, प्रकाशक- श्री जितयशा फाउंडेशन, ९ सी., एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकता- ७०००६९, पृ०-१४४, मूल्य-२०० रुपये।

महोपाध्याय श्री ललित प्रभसागरजी द्वारा रचित **विश्व-प्रसिद्ध जैन तीर्थ: श्रद्धा एवं कला** में राजस्थान, गुजरात, बिहार, उत्तर प्रदेश तथा कर्नाटक में पाए जानेवाले जैन तीर्थ स्थलों के मनमोहक चित्र एवं उनका सुरुचिपूर्ण वर्णन है। पुस्तक के अवलोकन से धर्म एवं कला दोनों के प्रति उत्साह में वृद्धि होती है। धर्म में आस्था रखने वालों को तीर्थस्थानों पर गए बिना भी बहुत हद तक पुण्य लाभ हो सकता है यदि वे पुस्तक में चित्रित धर्मात्माओं के प्रति अपने मन को केन्द्रित करें। कोई कला प्रेमी कला की ऊँचाई का बोध कर सकता है यदि उसमें कला ग्रहण्यता है। इसी लिए पुस्तक को श्रद्धा और कला के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। लेखक की विभिन्न रचनाओं में यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की छपाई आदि आकर्षक है। इस तरह यह रचना जैन धर्म एवं कला को एक नई देन है।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

द्रव्य संग्रह, हिन्दी पद्यानुवादक- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज, प्रकाशक- श्रीमती समताबहेन खंधार चेरिटेबल ट्रस्ट, २, आशियाना स्टर्लिंग पार्क, ड्राइव-इन सिनेमा के पास, अहमदाबाद- ३८००५२, पृ०-७६, मूल्य- स्वाध्याय।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र विरचित '**द्रव्य संग्रह**' एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। आकार में यद्यपि यह बहुत छोटा है परन्तु विषय की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें ६ द्रव्यों, ५ अस्तिकायों, ९ तत्त्वों, ५ पदार्थों, रत्नत्रय, पंचपरमेष्ठी के स्वरूप, ध्यान के लक्षण तथा उपाय आदि के वर्णन हैं। किन्तु जीव का विवेचन अपने आप में अनोखा है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचाया जाए तो वह लोकहित के साथ-साथ जैन चिन्तन के प्रचार-प्रसार के लिए भी श्रेयष्कर होगा। सम्भवतः इसी दृष्टि से आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने इसका हिन्दी पद्यानुवाद किया है और श्री परिमल किशोर भाई खंधार ने इसके विविध रूपान्तरणों को संकलित किया है। आचार्य

१२६ श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

श्री विद्यासागर जी महाराज जैनाचार्यों में मूर्धन्य हैं। वे धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ ही नहीं बल्कि प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, कन्नड़ आदि भाषाओं के भी अच्छे जानकार हैं। उन्होंने गाथा २ का हिन्दी अनुवाद इस रूप में किया है-

सुनो! जीव उपयोग-मयी है, तथा अमूर्तिक कहलाता,
स्व-तन-बराबर प्रमाणवाला, कर्ता-भोक्ता है भाता।
ऊर्ध्व-गमन का स्वभाव वाला, सिद्ध तथा अविकारी,
स्वभाव के वश, विभाव के दश, कसा कर्म से संसारी ॥२॥

इसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति आसानी से जैन दर्शनानुसार जीव की अवधारणा को अच्छी तरह समझ सकता है। अन्य भाषा-भाषियों के लिए भी इस संकलन में ध्यान दिया गया है। अतः यह रचना अनेक दृष्टियों से उपयोगी है। इसकी बाहरी रूपरेखा आकर्षक है तथा छपाई स्पष्ट है। इसके लिए आचार्य श्री के प्रति श्रद्धा भाव तथा संकलन कर्ता और प्रकाशक को बधाई है। आशा है, इस महत्वपूर्ण रचना का स्वागत विद्वानों और सामान्य व्यक्तियों के द्वारा होगा।

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा

प्रभुता का मार्ग, लेखक- महोपाध्याय ललित प्रभ सागर सम्पादन- श्रीमती लता भंडारी, प्रकाशक- श्री जितयशा फाउंडेशन, सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता- ६९, पृ०- ११०.

मनुष्य और पशु दोनों जीव हैं, परन्तु इनमें महान अंतर है। पशु के समक्ष आहार-ग्रहण करना और अपने जीवन की रक्षा करना यही एकमात्र लक्ष्य है। लेकिन मनुष्य स्वयं के जीवन की रक्षा करने के साथ-साथ दूसरों की भी रक्षा करता है। यही मानवता है और मनुष्य की प्रभुता भी। इस प्रभुता को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अनेकविध समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इन पर कैसे विजय प्राप्त किया जाए ताकि व्यक्ति अपनी दिव्यता को पहचान सके, इन्हीं बिन्दुओं पर लेखक ने अपनी इस कृति में विचार किया है। प्राचीन सन्दर्भों को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करके लेखक ने पाठकों के समक्ष प्रभुता के मार्ग को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जो सराहनीय है। जिज्ञासु जन इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे। मुद्रण सुन्दर एवं स्पष्ट है।

डॉ० रज्जन कुमार

साक्षी की आँख लेखक- मुनि श्री चन्द्रप्रभ सागर संपादन- सुश्री विजयलक्ष्मी जैन, प्रकाशक-श्री जितयशा फाउंडेशन, सी, एस्प्लानेड रो ईस्ट, कलकत्ता- ६९; पृ०- ८५; मूल्य- १२ रुपया।

आग्रह और अनाग्रह के बीच मनुष्य झूलता रहता है। वैचारिक परिपक्वता के अभाव में वह एक मत पर दृढ़ नहीं रह पाता है। द्वन्द्व के परिक्षेत्र में भटकता रहता है। वह प्रायः ऐसे चिन्तकों के सान्निध्य पाने को लालायित रहता है जो उनके द्वंद्वों को समाप्त कर सके। यद्यपि यह पूर्णतः संभव नहीं है, फिर भी कुछ लोग इस दिशा में प्रयत्न करते हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक महोपाध्याय चन्द्रप्रभ सागर एक प्रभावशाली चिंतक हैं। उन्होंने मानव-मन की चंचलता एवं उसके मनोविज्ञान का सूक्ष्म अवलोकन किया है। पुस्तक का मुद्रण निर्दोष और साजसज्जा आकर्षक है।

डॉ० रज्जन कुमार

पं० आशाधर: व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व लेखक- पं० नेमचन्द डोणगाँवकर प्रकाशक- अखिल भारतीय दिगम्बर जैन बघेरवाल संघ, रामपुरा, आर्य समाज रोड, कोटा- ६, प्रथम संस्करण- १९९५ आकार डिमाई, हार्ड बाउण्ड, पृ०- २८० मूल्य- पुस्तकालय संस्करण- ५० रुपये, साधारण संस्करण- २५ रुपये।

पं० नेमचन्द जी डोणगाँवकर द्वारा लिखित '**पं० आशाधर व्यक्तित्व और कर्तृत्व**' नाम पुस्तक एक ऐसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान् के विषय में लिखा गया है जो अनेक ग्रन्थों के रचयिता हैं। पं० आशाधर जी द्वारा लिखित अनगर तथा सागार धर्माभूत की प्रशस्ति द्वारा यह ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम 'सल्लक्षण' तथा कुल का नाम व्याघ्रेरवाल था। यद्यपि ये गृहस्थ थे तथापि वीतरागी थे। उन्होंने अपने पाण्डित्य के प्रभाव से अनेक राजाओं को भी प्रभावित किया। इनके समान धर्म प्रचार करने वाला तथा साहित्य का निर्माण करने वाला बिरला ही होता है। ऐसे बहुश्रुत विद्वान् के विषय में जिस निष्ठा और लगन के साथ लेखक ने (उक्त पुस्तक में) प्रकाश डालने का काम किया है, वह सराहनीय है।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक एवं मुद्रण-कार्य निर्दोष है। पुस्तक एक उच्चकोटि के विद्वान् के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर आधारित होने से सर्वजनोपयोगी होने के साथ-साथ संग्रहणीय भी है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

श्री समाधि शतक विधान, रचयिता- आ० देवनन्दि अनुवादक- राजमल पवैया संपादक-डॉ० देवेन्द्र कुमार जी शास्त्री, प्रकाशक- भरत पवैया, तारादेवी पवैया ग्रन्थमाला, ४४ इब्राहिमपुरा, भोपाल- ४६२००१, प्रथमावृत्ति नवम्बर १९९५, आकार-डिमाई, पेपर बैक, पृ०- १११, मूल्य १० रुपये।

छठी शताब्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य, अनेक ग्रन्थों के टीकाकार, जैनागम के

१२८ श्रमण/जनवरी-मार्च/१९९८

मूर्धन्य विद्वान् आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि का नाम जैन वाङ्मय में चिरस्थायी है। विभिन्न शास्त्रों का गहन अध्ययन होने के साथ ही साथ उन्हें उच्चकोटि का आध्यात्मिक ज्ञान भी था। सम्भवतः यही कारण रहा हो कि उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा संस्कृत में प्रथम बार 'समाधि तंत्र' या 'समाधि शतक' जैसी श्रेष्ठ आध्यात्मिक रचना भी रची। अध्यात्मरस में निमग्न आचार्य पूज्यपाद कहते हैं-

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।

स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद् वियोजयति देहिनम्॥

अर्थात्, इस देह में व अन्य पर वस्तु में और भावों में आत्मा की बुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा अपनी आत्मा को इस शरीर से या पुद्गल कर्मरूप से बन्धन में डाल देता है किन्तु अपनी आत्मा के सच्चे स्वरूप में आत्मबुद्धि रखनेवाला आत्मज्ञानी अपनी आत्मा को निश्चय ही देह से या पुद्गल कर्मबन्ध से छुड़ा लेता है।

आचार्य की विशेषता यही थी कि उन्होंने अपने लेखन एवं उद्बोधन द्वारा सदैव ही समाज को मोक्षमार्ग में अग्रसर होने का उपदेश दिया। आज भी उनके उपदेशों का और उनकी दिनचर्या का जो भी साधक स्मरण और अनुकरण करेगा, वह मानव इस भव से सहज ही मुक्ति प्राप्त करेगा।

पुस्तक का मुद्रण कार्य निर्दोष एवं बाह्यावरण आकर्षक है। पुस्तक उपदेशों से पूर्ण होने के कारण संग्रहणीय है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् (स्वोपज्ञभाष्यसमेतम्), ग्रन्थकार- उमास्वाति सम्पादक प्रशमितरतिविजय प्रकाशक- रत्नत्रयी आराधक संघ नवसारीका, रमणलालछगनलाल आराधना भवन, शान्तिदेवी रोड, नवसारी, पृष्ठ संख्या- १९९, मूल्य ८० रुपये।

जैन दर्शन में 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इसके रचयिता आचार्य उमास्वाति हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका में उमास्वाति के जन्मादि की तिथियां सम्पादक के अनुसार इस प्रकार हैं- भगवतो जन्म श्री वीर निर्वाणाद् ७१४ तमेऽब्दे (१८७ ईस्वी), दीक्षा ७३३ तमेऽब्दे (२०७ ईस्वी)। सूरिपदवी ७५८ तमेऽब्दे (२३१ ईस्वी), निर्वाणञ्ज ७९८ तमेऽब्दे (२७१ ईस्वी)। उमास्वाति सभी जैन सम्प्रदायों में मान्य एवं आदरास्पद रहे हैं। दिगम्बर परम्परा उन्हें उमास्वाति तथा उमास्वामी दोनों नामों से जानती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में वे केवल उमास्वाति नाम से ही प्रसिद्ध हैं। **तत्त्वार्थसूत्र** के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए स्वयं उमास्वाति का कहना है-

यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तत्रोक्तम्।

सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्याचिरेण परमार्थम्॥

प्रतिपाद्य विषय के महत्त्व के अतिरिक्त 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' का एक यह भी महत्त्व है कि जैन विद्या का यह प्रथम ग्रन्थ है जिसकी संस्कृत में रचना हुई है। उमास्वाति की इस सूत्रशैली के अनुसार परवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने संस्कृत में व्याकरण, अलंकार शास्त्र आदि के ग्रन्थों की रचना की।

यह ग्रन्थ कणाद के वैशेषिक सूत्रों की तरह दश अध्यायों में विभक्त है। समग्र सूत्रों की संख्या ३४४ है। जैन परम्परा श्रद्धा प्रधान है अतः उमास्वाति ने युक्ति-प्रयुक्ति न देते हुए और पूर्वपक्ष का उपस्थापन न करते हुए सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है।

दशाध्यायी इस ग्रन्थ के पहले अध्याय में 'ज्ञान' की मीमांसा की गई है। दूसरे से पाँचवें तक 'ज्ञेय' की तथा छठे से दसवें तक 'चारित्र' की विवेचना की गई है। सूत्र के अतिरिक्त उमास्वाति का ही स्वोपज्ञ भाष्य भी है। इस ग्रन्थ का प्राधान्येन प्रतिपाद्य मोक्षमार्ग है, क्योंकि ग्रन्थकार का यह सुस्पष्ट मत है कि इस संसार में मोक्ष मार्ग के बिना कोई उपदेश संभव नहीं है-

नते च मोक्षमार्गदितोपदेशोऽस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्।
तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि॥

सम्पादक का कहना है कि यद्यपि इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण उपलब्ध हैं तथापि केवल भाष्यसहित सूत्रपाठ वाले संस्करण न होने से इस संस्करण की उपादेयता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ३१ कारिकाएँ हैं जो कि ग्रन्थकार ने भूमिकारूप से प्रस्तुत की हैं। तदनन्तर भाष्यसहित चार परिशिष्ट दिये गए हैं। प्रथम परिशिष्ट में केवल सूत्रपाठ है, द्वितीय परिशिष्ट में अकारादिक्रम से सूत्रों की अनुक्रमणिका दी गई है। तृतीय परिशिष्ट में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आम्नायों में स्वीकृत पाठों की तुलना है। चतुर्थ परिशिष्ट में अकारादिक्रम से विशिष्ट शब्दों की सूची दी गई है।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्पादक की सुललित संस्कृत में १४ पृष्ठों की सुन्दर भूमिका दी गई है, जो कि सम्पादक की मौलिक प्रतिभा की परिचायक है। ग्रन्थ का मुद्रण भी सर्वथा हृद्य और निरवद्य है।

प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डे

Pearls of Jaina Wisdom (जिनवाणी का अमृत) लेखक- दुलीचन्द्र जैन, प्रकाशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ एवं जैनोलाजिकल रिसर्च फाउण्डेशन, चेन्नई, मूल्य- १२० रुपये।

श्री दुलीचन्द जैन द्वारा १९९३ में प्रकाशित लोकप्रिय ग्रन्थ “जिनवाणी के मोती” का अंग्रेजी रूपान्तर है। इसमें सम्पूर्ण आगम ग्रन्थों का आलोडन करके प्रेरणादायक सूक्तियों का संकलन किया गया है। यह कृति निश्चय ही संकलयिता के व्यापक अध्ययन की निष्पत्ति है। यह ग्रन्थ जहां एक ओर एक सामान्य अध्ययनकर्ता के लिए उपयोगी है वहीं विशिष्ट विद्वानों के लिए भी लाभदायक है।

वर्तमान तेज भागती हुई जिंदगी में जब हम व्यक्तिगत और सामाजिक विघटन के मोड़ पर खड़े हैं, ऐसी पुस्तक हमारे जीवन की जटिलताओं को सुलझाकर हमें एकीकृत करने में मदद दे सकती है। भौतिकता की अंधी दौड़ में भागते हुए हम लोग आज जीवन के सच्चे आनंद की वास्तविक दिशा को भूल गए हैं। आज हमें अपने सामाजिक जीवन के प्रति अविश्वास है, हमारा अपना पारिवारिक जीवन अब हमें कल्याण और सुरक्षा का पथ दिखाने में असमर्थ है, अपने आर्थिक जीवन की जटिलताओं से हम विभ्रमित हो चुके हैं, चिकित्सा तकनीकी के उच्चतम विकास के बावजूद हम तन और मन से स्वस्थ नहीं हैं, जिंदगी की नित्य नई परेशानियां और पेचीदगियां समय समय पर प्रकट होकर हमें त्रस्त कर रही हैं।

बदलते हुए परिवेश का मुकाबला करने का सबसे प्रभावशाली उपाय है कि हम व्यक्तिगत स्तर पर बदलाव लावें। एक बार हमारे अपने दृष्टिकोण में बदलाव आ गया, तो फिर हम बाकी सभी क्षेत्रों में परिवर्तन सुगमता से कर सकते हैं। इसके लिए हमारे देश के महर्षियों ने हमें जीवन जीने का एक ऐसा मार्ग बताया था जो नैतिक मूल्यों से प्रेरित सर्वजन कल्याणकारी था। जैन धर्म का यह विश्वास है कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है। हर व्यक्ति के भीतर अपनी दिव्यताओं को प्रकट करने की अद्भुत क्षमता है।

इन जीवन मूल्यों की चिरंतनता ने ही संकलनकर्ता को ज्ञान की उस अनंत राशि को वर्तमान समय के लिए उजागर करने की प्रेरणा दी। उनका विश्वास है कि ये सूत्र वर्तमान जीवन की समस्याओं का सही समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

इस ग्रन्थ में दो खंड हैं। प्रथम खंड में तीर्थंकर महावीर के जीवन और संदेश पर संक्षिप्त प्रकाश डाल कर लेखक ने जैन आगम साहित्य का परिचय दिया है और इस प्रकार द्वितीय खंड की पृष्ठभूमि तैयार की है, जो भगवान् महावीर की श्रेष्ठ सूक्तियों का संकलन है। द्वितीय खंड को बारह अध्यायों में निबद्ध कर ६५० सूक्तियों को ७१ विषयों में वर्गीकृत किया है। ये अध्याय हैं :- मंगल, आत्मा, ज्ञान और क्रिया, तत्त्व, कषाय, मन, कर्म, भावना, धर्म, ध्यान, शिक्षा आदि। ये सभी सूक्तियां शिक्षाप्रद, प्रेरक एवं मननीय हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास-यात्रा के लिए यह संकलन उपयोगी है।

अनुवाद की भाषा सहज व प्रभावोत्पादक है जिससे पाठक एक बार पढ़कर ही विषय को ग्रहण कर लेता है। यह ग्रन्थ अनुसंधानकर्त्ताओं के लिए भी उपयोगी सिद्ध होगा क्योंकि इसमें प्रत्येक सूत्र मूल प्राकृत में दिया हुआ है। प्रत्येक सूत्र का रोमन लिपि में लिप्यन्तरण देने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। पुस्तक के अंत में गाथानुक्रमणिका, सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची, पारिभाषिक शब्दावली व उनके अर्थ आदि दिये हुए हैं।

भक्ति वगर मुक्ति नथी, प्रवक्ता- मुनि मुक्तिरत्नसागर जी प्रकाशक- श्री अक्षय प्रकाशन, श्री रमणीक लाल सलोत, २०४, श्रीपाल नगर, १२ हार्कनेस रोड, बालेश्वर, मुंबई-६, १९९७, आकार-डिमाई, पेपर बैक, पृ०- १६८, मूल्य- ४० रुपये।

यह सर्वविदित है कि भक्ति ही मुक्ति का एक सरल और सहज उपाय है जो सभी के लिये सुलभ है। जो मानव कठिन तप, साधना आदि करने में असमर्थ हैं उन सभी के लिये भक्ति ही एक सरलतम उपाय है जिसके माध्यम से वे मोक्ष को अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर महर्षि पतञ्जलि ने 'यमनियमादि' अष्टांग के अतिरिक्त 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' नामक सूत्र की भी रचना की और इसी तथ्य को ध्यान में रखकर मुनि श्री मुक्तिसागर जी म०सा० के 'रत्नाकर पच्चीसी' पर दिये गये प्रवचनों को 'भक्ति वगर मुक्ति नथी' नामक पुस्तक में संगृहीत किया गया है। अपने व्याख्यानों को आकर्षक बनाने के लिये म०सा० ने विविध दृष्टान्तों, पदों और उर्दू शायरियों को इसमें समाहित किया है। मुमुक्षुओं के लिये पुस्तक उपयोगी है।

पुस्तक का आवरण आकर्षक एवं मुद्रण कार्य निर्दोष है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

पञ्चशती, लेखक-आचार्य विद्यासागर, संस्कृत टीका एवं हिन्दी रूपान्तरण- डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य प्रकाशक-ज्ञानगंगा, ३०, डिप्टीगंज, सदरबाजार, दिल्ली-६, प्रथमावृत्ति-फरवरी १९९१, आकार-डिमाई, पेपर बैक, पृ०- ३५१, मूल्य- स्वाध्याय।

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले विद्वान् पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज काव्यशास्त्र या आगम साहित्यादि का अध्ययन मात्र कालयापन के उद्देश्य से नहीं करते बल्कि वे उसके तत्त्व को आत्मसात् कर समाज को भी इसी राह पर चलने की प्रेरणा देने के लिए करते हैं। ऐसे महान् सन्त द्वारा विरचित 'पञ्चशती' जो श्रमणशतक, निरंजनशतक, भावनाशतक, परीषहजयशतक (ज्ञानोदय) और सुनीतिशतक का संग्रह है, एक ऐसा संग्रहकाव्य है जिससे उनके पाण्डित्य का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

श्रमणशतक

आचार्य कुन्दकुन्द ने स्वनिर्मित प्रवचनसार के चारित्र नामक अधिकार में- जो हर परिस्थिति में समत्व को धारण करता है वही श्रमण है- इस प्रकार की जो बात कही है उसी को आधार बनाकर आचार्य विद्यासागर जी ने उक्त शतक की रचना की है। इसके मूल में आर्या एवं पद्यानुवाद में वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है।

निरंजनशतक

वस्तुतः जो आत्मा ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव वाला है किन्तु कषायों के संयोग से कलुषित हो रहा है ऐसी विशुद्ध आत्मा पर पड़े कषायरूपी आवरणों को रत्नत्रय की साधना से जिन साधकों ने दूर कर दिया है और जो अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव में लीन हो चुके हैं ऐसे सिद्ध परमेष्ठी निरंजन कहलाते हैं। प्रस्तुत शतक में इन्हीं की स्तुति की गयी है। इस शतक के मूल में द्रुतविलम्बित और हिन्दी में वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग हुआ है।

भावनाशतक- इस शतक में तीर्थकर प्रकृति के बन्ध करने में कारणभूत दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं के लिये जिन शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ से होता आ रहा था उन शब्दों के स्थान पर नये-नये शब्दों का प्रयोग किया गया है यथा- दर्शनविशुद्धि, निर्मलदृष्टि, विनयसम्पन्नता, विनयावनति, शीलव्रतेष्वनतिचार, सुशीलता आदि।

प्रस्तुत शतक में प्रत्येक भावना के पश्चात् मुरजबन्ध लिखा है। सामान्यतः मुरजबन्ध कई प्रकार का होता है किन्तु यहाँ सामान्य मुरजबन्ध का प्रयोग ही किया गया है। महाकवि अजितसेन विरचित **अलंकारचिन्तामणि** में मुरजबन्ध लिखने की विधि इस प्रकार बतलायी है-

पूर्वार्धमूर्ध्वं पङ्क्तौ तु लिखित्वाऽर्द्धं परं त्वतः।

एकान्तरितमूर्ध्वाधो मुरजं निगदेत् कविः॥२/१४९॥

अर्थात् ऊपर की पंक्ति में पूर्वार्ध पद्य को लिखकर नीचे उत्तरार्ध को लिखें। एक-एक अक्षर से व्यवहित ऊपर और नीचे लिखने से मुरजबन्ध की रचना होती है। इस वृत्त का प्रयोग इस शतक के १०, १६, २२, २८, ३४, ४० आदि श्लोकों में हुआ है। इस शतक में मुरजबन्ध में अनुष्टुप और शेष पद्यों में आर्या छन्द का प्रयोग किया गया है।

परीषहजयशतक- ज्ञातव्य है कि क्षुधादि बाईस परीषहों पर विजय प्राप्त किये बिना मुनि पद का निर्बोध निर्वाह नहीं होता अतएव आचार्य ने इस शतक के माध्यम

से इन पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी है। इसके मूल में द्रुतविलम्बित तथा पद्यानुवाद में मुक्तक छन्द का प्रयोग किया गया है साथ ही प्रत्येक श्लोक के अन्त में अन्त्यानुप्रास भी रखा है।

सुनीतिशतक- 'यथा नाम तथा गुण' इस उक्ति को चरितार्थ करते हुए आचार्य ने इस शतक को बड़े ही सरल ढंग से रचा है। यह रचना सुबोध और प्रसाद गुण युक्त है। लेखक द्वारा इसके मूल में उपजाति तथा पद्यानुवाद में मुक्तक छन्द का प्रयोग किया गया है।

पञ्चशती की टीका एवं हिन्दी रूपान्तरण डॉ० पं० पन्नालाल साहित्याचार्य जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। इस प्रकार यह 'पञ्चशती' साहित्यरसिकों, उदीयमान लेखकों और मुमुक्षुओं को अपने अभीष्ट स्थान को प्राप्त करने में एक सेतु का कार्य करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

पुस्तक का आवरण सुन्दर एवं मुद्रण कार्य निर्दोष है। पुस्तक संग्रहणीय है।

डॉ० जयकृष्ण त्रिपाठी

भद्रबाहु- चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक एवं कल्किवर्णन, रचयिता- महाकवि रङ्गू, सम्पादक एवं अनुवाद-डॉ० राजाराम जैन, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन युवक संघ, पृष्ठ संख्या- ११२, मूल्य २५ रुपये।

यह अपभ्रंश भाषा में रचित एक लघु ऐतिहासिक कृति है। इसके रचयिता अपभ्रंश भाषा के महाकवि रङ्गू हैं, जिनका काल लेखक के अनुसार वि०सं० १४४० से १५३० माना गया है। इसमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु, चन्द्रगुप्तमन्त्री चाणक्य, राजा चन्द्रगुप्त, नन्द एवं मौर्य वंश तथा प्रत्यन्त राजा (पर्वतक?) के विषय में संक्षिप्त वर्णन है। सम्पादक का कहना है कि इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रुतपञ्चमी पर्वारम्भ, कल्कि अवतार, एवं षट्काल वर्णन के संक्षिप्त प्रकरण भी उपलब्ध हैं जो अन्य भद्रबाहु, चाणक्य और चन्द्रगुप्त के कथानकों में दृष्टिगोचर नहीं होते। दिगम्बर जैन परम्परा के अनुसार राजा चन्द्रगुप्त (मौर्य) ने आचार्य भद्रबाहु से जैन दीक्षा ली थी। वे दश पूर्वधारी होकर विशाखाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए।

समग्र ग्रन्थ में २८ कडवक (अध्याय) हैं। प्रत्येक के आरम्भ में सम्पादक ने कथावस्तु का हिन्दी तथा अंग्रेजी में शीर्षक दिया है जिससे पाठक को अध्याय के विषयवस्तु की संक्षेप में जानकारी हो जाती है। बाएँ पृष्ठ में मूल ग्रन्थ तथा दाहिने पृष्ठ पर इसी अंश का हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त में छः उपयोगी परिशिष्ट भी दिये गए हैं। प्रथम दो परिशिष्ट क्रमशः भद्रबाहु कथानकम् और चाणक्य मुनिकथानकम्

हरिषेणाचार्यकृत **बृहत्कथाकोष** से उद्धृत हैं। तृतीय परिशिष्ट में भद्रबाहु- चाणक्य-चन्द्रगुप्त कथा है जो रामचन्द्रमुमुक्षुकृत **पुण्याश्रव कथाकोष** से ली गई है। 'चाणक्य कथाणम' नामक चतुर्थ परिशिष्ट में **उत्तराध्ययन** की सुबोधा टीका से उद्धृत चाणक्य का कथानक दिया गया है। पञ्चम परिशिष्ट में अकारादिक्रम से शब्दकोष दिया है और अन्तिम परिशिष्ट में महत्त्वपूर्ण शब्दों पर टिप्पणियाँ दी गई हैं। ग्रन्थ में सम्पादक की तीस पृष्ठों की प्रस्तावना में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य और उसकी कतिपय ऐतिहासिक समस्याओं पर शोधदृष्टि से विचार किया गया है जिसे पढ़कर पाठक जिज्ञासा निवृत्ति के लिये स्वयं ग्रन्थ को पढ़ने में रुचि लेने लगता है। ग्रन्थ उपयोगी है और पहली बार प्रकाशित होने से इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

प्रो० सुरेश चन्द्र पाण्डे

साभार स्वीकार

१. **पगले पगले प्रकाश** (गुजराती) लेखक- पं० श्री रत्नसुन्दर विजय जी म०सा० प्रकाशक- रत्नत्रयी ट्रस्ट, श्री प्रवीण कुमार दोशी, २५८, गांधीगली, स्वदेशी मार्केट, कालबा देवी रोड, मुम्बई- ४००००२; पृष्ठ-१०४; मूल्य ४० रुपये, प्रकाशन वर्ष- दिसम्बर १९९६ ई०.

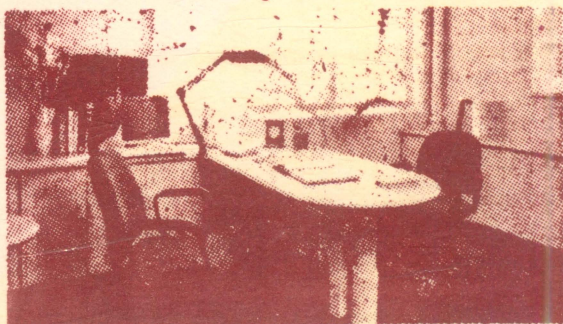
२. **प्रवचनगंगा**- लेखक एवं प्रकाशक, पूर्वोक्त

३. **कर्मस्तव**, कर्ता, देवेन्द्रसूरि जी महाराज, विवेचक- पू०सा० हर्षगुणा श्री जी म०सा०, प्राप्तिस्थान- श्री ॐकारसूरि आराधना भवन, सुभाष चौक, गोपीपुरा, सूरत. पृष्ठ १६+२२३; मूल्य ७५/-रुपये, प्रकाशनवर्ष- १९९६ ई०।

४. **उपाध्याय श्रीप्यार चंद जी म०सा० : व्यक्तित्व एवं कृतित्व**; संपा०, मुनि प्रकाशचन्द्र जी महाराज 'निर्भय'; प्रकाशक- उपाध्याय श्री प्यारचंद जी जैन सिद्धान्तशाला, नीम चौक, रतलाम (मध्य प्रदेश); पृष्ठ- २०+२१४; मूल्य- आत्मउत्थान; प्रकाशन वर्ष वि०सं०- २०५२.

५. **अपभ्रंश अभ्यास सौरभ**, लेखक डॉ० कमलचन्द सोगानी; प्रका०- अपभ्रंश साहित्य अकादमी, जैन विद्या संस्थान, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीर जी, राजस्थान; पृष्ठ- १२+२७६; मूल्य-पुस्तकालय संस्करण ८५/- रुपये; छात्र संस्करण- ७५/- रुपये; प्रकाशनवर्ष- १९९६ ई०. (अपभ्रंश भाषा के अध्ययनार्थियों को इस पुस्तक से अपभ्रंश भाषा सीखने में पर्याप्त सहायता मिलेगी क्योंकि डॉ० सोगानी ने उन्हीं को लक्ष्य में रखकर इसकी रचना की है।)

NO PLY, NO BOARD, NO WOOD.



ONLY NUWUD.[®]

INTERNATIONALLY ACCLAIMED
Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry. As ceilings,

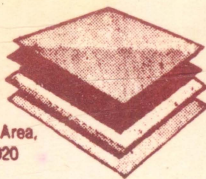
DESIGN FLEXIBILITY
flooring, furniture, mouldings, panelling, doors, windows... an almost infinite variety of

VALUE FOR MONEY
woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think NUWUD MDF.

Arms Communications



E-46/12, Okhla Industrial Area,
Phase II, New Delhi-110 020
Phones : 632737, 633234,
6827185, 6849679
Tlx: 031-75102 NUWD IN
Telefax: 91-11-6848748



IS 12408



*The one wood for
all your woodwork*

MARKETING OFFICES: • AHMEDABAD: 440672, 469242 • BANGALORE: 2219219
• BHOPAL: 552760 • BOMBAY: 8734433, 4937522, 4952648 • CALCUTTA: 270549
• CHANDIGARH: 603771, 604463 • DELHI: 632737, 633234, 6827185, 6849679
• HYDERABAD: 226607 • JAIPUR: 312636 • JALANDHAR: 52610, 221087
• KATHMANDU: 225504, 224904 • MADRAS: 8257589, 8275121